# भारतीय नीतिशास्त्र

डॉ॰ दिवाकर पाठक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
। पटना ।

# भारतीय नीतिशास्त्र

लेखक
**डॉ० दिवाकर पाठक**
दर्शन-विभाग, टी० एन० बी० कॉलेज, भागलपुर

संपादक
**प्रो० हरिमोहन झा**
भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पटना विश्वविद्यालय

**बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी**
पटना

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार, मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशित ग्रंथ संख्या 370

प्रथम संस्करण 1974, प्रतियाँ 2000
द्वितीय संस्करण 1982, प्रतियाँ 2000
तृतीय संस्करण 1992, प्रतियाँ 3300
चतुर्थ संस्करण 1994, प्रतियाँ 2000

बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना
संशोधित मूल्य रु०-
मूल्य २५.०० (पच्चीस रु०) मात्र

Rs 50=00

प्रकाशक :
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी
पटना।

मुद्रक :
कमल प्रिंटिंग प्रेस
पटना-8.0 004

# प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से शत प्रतिशत अनुदान देकर तथा अंशत: केन्द्रीय अभिकरण के द्वारा करा रही हैं। प्रत्येक हिन्दी भाषी राज्य में इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकाय की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वियन ऐसे ही निकाय बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी के तत्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रन्थों में यथासम्भव भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'भारतीय नीतिशास्त्र' डॉ० दिवाकर पाठक द्वारा लिखी गयी नीति शास्त्र की एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसका चौथा संस्करण बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना द्वारा प्रकाशित किया जा रहा हैं। आशा है, यह पुस्तक छात्रों और शोधार्थियों के लिए उपयोगी प्रमाणित होगी।

पटना,
जुलाई, १९९४.

अध्यक्ष,
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
मुख्यमंत्री, बिहार।

## प्रकाशकीय

'भारतीय नीतिशास्त्र' डॉ० दिवाकर पाठक द्वारा लिखित पुस्तक है। इसमें सरल भाषा में भारतीय नीतिशास्त्र के वैचारिक तत्वों का विश्लेषण किया गया है। विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये इस पुस्तक की उपादेयता चौथे संस्करण से सिद्ध है।

नीतिशास्त्र की वैचारिक पृष्ठभूमि इतनी विस्तृत है कि देश की नैतिक परंपरा के अनुकूल व्यक्ति और समाज के समुचित विकास के लिये आवश्यक जितनी भी सामान्य बातें हैं, उनका समावेश इसमें हो जाता है। नीतिशास्त्र का आधार स्वानुभूति है। भारतीय जीवन में नीति की उपयोगिता पर सामान्यत: प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगाया जाता।

यह पुस्तक छ: अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में नीतिशास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, द्वितीय अध्याय में नीतिशास्त्र के प्रमुख प्रत्यय, तीसरे अध्याय में भारतीय नीतिशास्त्र की पूर्व मान्यताएँ तथा उसके बिभिन्न पक्ष, चौथे अध्याय में सद्गुणों का वर्गीकरण, पाँचवें अध्याय में नैतिकता के प्रमुख मानदंड और छठे अध्याय में आधुनिक भारतीय नैतिक चिंतन पर विचार किया गया है। इस अध्याय में स्वामी विवेकानंद, श्री अरविंद घोष, महात्मा गाँधी, आचार्य विनोबा भावे, श्री मानवेन्द्रनाथ राय, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के विचारों का विश्लेषण हुआ है।

नीतिशास्त्र का उद्देश्य व्यक्ति और समाज के लिये 'पथ प्रदर्शन' करना है। भारतीय साहित्य में नीति के गहन तत्व मिलते हैं। प्राचीनतम भारतीय ग्रंथ ऋग्वेद में मिलनेवाली आख्यायिकाएँ और सूक्तियां भी नीतिपरक हैं। वहाँ से यह परम्परा संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से होती हुई हिंदी में आयी है। नीति को लेकर भारतीय साहित्य विश्वसाहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस पुस्तक में उन नैतिक निष्कर्षों से पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न हुआ है जिनसे व्यक्ति और समाज दोनों का पथ प्रशस्त हो। नीतिशास्त्र के विचारों में भी समयानुसार परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ है जिसकी झलक इस पुस्तक में मिलती है। आशा है, इस पुस्तक का व्यापक स्वागत पाठकों द्वारा होगा। इस पुस्तक के प्रकाशन में जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग मिला है, उनके प्रति ग्रंथ अकादमी आभार व्यक्त करती है।

11 फरवरी, 1994

अमर कुमार सिंह

निदेशक

बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना

## दो शब्द

डॉ० दिवाकर पाठक की लिखी पुस्तक **भारतीय नीतिशास्त्र** को मैंने अंशत: किन्तु रुचिपूर्वक पढ़ा। पुस्तक में वैदिक काल से लेकर आज तक के प्रचलित नीति-संबंधी भारतीय चिंतनों का संक्षिप्त एवं रोचक विवरण देने की चेष्टा की गई है। हिंदी में इस ढंग का प्रयास उत्साहवर्द्धक है। अवश्य ही भारतीय नीतिशास्त्र के छात्रों के लिए पुस्तक उपयोगी है। श्री कृष्णमूर्ति का उल्लेख न होना खटकता है। समीक्षा की दृष्टि से पुस्तक में विवेच्य का विश्लेषण अधिक आवश्यक है।

मैं पुस्तक की सफलता की कामना करता हूँ और लेखक को बधाई देता हूं।

अधिस्नातक दर्शन-विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
२३-२-१९७४

—योगानंद दास

## संपादकीय

डॉ० दिवाकर पाठक की प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय नीतिशास्त्र के प्रमुख विचारों का परिचय दिया गया है। लेखक ने परिश्रमपूर्वक विषय-वस्तु का अनुशीलन और संकलन किया है। हिंदी में एतद्विषयक ग्रंथों की कमी है। अतः यह पुस्तक एक विशिष्ट अभाव की पूर्ति करने में सहायक होगी। आशा है, विश्वविद्यालयों के छात्रगण इससे विशेषरूपेण लाभान्वित होंगे।

पटना
३१-३-७४

—हरिमोहन झा

## FORWARD

I welcome the publication of Dr. Diwakar Pathak's book on Indian Ethics. Dr. Diwakar has fulfilled a great need. In all Indian Universities, Indian Ethics is a part of the syllabus of M. A. Examination in philosophy; but no suitable book on the subject is available to students. Dr. Diwakar has given a nice introduction to the subject in this volume. It is comprehensive and systematic, and written in an intelligible manager. I hope, it will be welcome by the students of Ethics.

Atreyaniwas,
Varanasi-5
8-1-73

Sd/-B. L Atreya

Dr. B. L. Atreya,
M. A., D. Litt.
Banaras Hindu University.

# आमुख

## ( प्रथम संस्करण से )

भारतीय नीतिशास्त्र पर लिखी गयी प्रस्तुत पुस्तक मुख्यत: बी० ए० पास औनर्स एवं एम० ए० के दर्शन-शास्त्र पढ़ने वाले छात्रों के लिए है। प्राय: सभी विश्वविद्यालयों मे किसी-न-किसी स्तर पर भारतीय नीतिशास्त्र का पठन-पाठन होता है; किन्तु इस विषय में अंग्रेजी-माध्यम से लिखी गयी पुस्तकों को छोड़कर हिन्दी में अभी तक कोई अच्छी पुस्तक संभवत: उपलब्ध नहीं है, जो पाठ्य ग्रंथ हो सके। इसी उद्देश्य से इस दिशा में प्रयत्नशील होने की आवश्यकता का अनुभव मुझे हुआ। छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक में समस्त पाठ्य-तत्त्वों पर व्यापक एवं तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता किसी भी जिज्ञासु के लिए अपेक्षित है। विषयवस्तु मूलत: प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों पर आधारित है, इसलिए यथास्थान प्रमाणों को भी उद्धृत किया गया है। फलत: पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि की संभावना है। शैली यथासाध्य सरल एवं आलोचनात्मक रखी गयी है। सुविधा के लिए पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी रूपांतर भी सम्पृक्त है।

इस संस्करण में कुछ समसामयिक चिन्तकों पर कुछ कारणवश विचार नहीं हो सका है। आशा है, बाद के संस्करण में इसे अन्तर्गत कर लिया जाएगा।

त्रुटियों के मार्जन पर बहुत जागरूक रहने पर भी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं। आशा है, अगले संस्करण में ये नहीं रहेंगी।

आशा है, दर्शन-शास्त्र के अध्येताओं एवं जिज्ञासु छात्रों के लिए प्रस्तुत पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी। श्रद्धेय आचार्य प्रोफेसर हरिमोहन झा, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन-शास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना के प्रति किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, समझ में नहीं आता। अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने पांडुलिपि का पुनरीक्षण और समुचित परिष्कार कर ग्रन्थ के गौरव की वृद्धि की है। प्रस्तुत पुस्तक की संस्थानिक प्रक्रिया में प्राप्त साहाय्य के लिए डॉ० भीखन आत्रेय एवं प्रो० ए० सी० मैत्र के प्रति आभार स्वीकार करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। श्रद्धेय गुरुवर प्रोफेसर डॉ० राजेन्द्र प्रसाद आई० आई० टी०, कानपुर एवं प्रोफेसर नित्यानन्द मिश्र, अध्यक्ष, दर्शन-शास्त्र विभाग, भागलपुर

विश्वविद्यालय, भागलपुर का विशेष आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा एवं सतत-मार्ग-दर्शन के बिना इस पुस्तक का निर्विघ्न समापन असंभव था। समय-समय पर प्रोत्साहन के लिए अपने गुरुजनों—सर्वश्री डॉ० रमाशंकर श्रीवास्तव, अध्यक्ष दर्शन-शास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, डॉ० उमाचरण झा, प्रो० त्रिभुवननाथ शरण, डॉ० कृष्ण मोहन झा, दर्शन-शास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय तथा डॉ० रामजी सिंह, प्रो० योगानन्द दास, दर्शन-शास्त्र विभाग, भागलपुर विश्व-विद्यालय के प्रति अशेष कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। पुस्तक की भाषा-शैली के परिष्करण-परिमार्जन के लिए अपने पूज्य पिता श्री प्रो० वनेश्वर पाठक, हिन्दी विभाग, सन्त जेवियर्स कालेज, राँची तथा मित्रवर डॉ० सियाराम तिवारी, हिन्दी-विभाग, तेज नारायण बनैली महाविद्यालय, भागलपुर के प्रति आभार-स्वीकार में शब्द ही चूक जाते हैं। इस क्रम में बिहार में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना के निदेशक डॉ० शिवनन्दन प्रसाद को कभी नहीं भूल सकता, जिनकी कृपा-स्वीकृति एवं सहायता के अभाव में यह पुस्तक इस रूप में न आ सकती थी।

पुस्तक की भाषा को सँवारने में समय-समय पर मित्रवर डॉ० निशिकांत पाठक का सहयोग मिलता रहा है; इसलिए कृतज्ञता-ज्ञापन के क्रम में उनके नाम को भूल जाना असंभव है।

अन्त में, पुनः एक बार उन समस्त जाने-अनजाने सज्जनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिनसे पुस्तक के सर्जन से मुद्रण तक तनिक भी सहायता मिली हो।

॥ सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ॥

भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

१० मई, १९७०

—दिवाकर पाठक

## विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

# भारतीय नीतिशास्त्र

# १ भारतीय नीतिशास्त्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय नीतिशास्त्र की परिभाषा, उद्भव, विकास एवं विशेषताएँ; भारतीय और पाश्चात्य नीतिशास्त्र की तुलना।

"नीतिशास्त्र सत्य, हित और परिणाम में सुख देनेवाली बातों की चर्चा करता है।"

—ब्रह्मवैवर्त पुराण, ११५।१३

"सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥"

(समस्त लोक-व्यवहार की स्थिति बिना नीतिशास्त्र के उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार देहधारियों की स्थिति भोजन के बिना नहीं हो सकती।)

—शुक्रनीति, १।२

## (क) नीतिशास्त्र की परिभाषा :

भारतीय नीतिशास्त्र की एक लम्बी परम्परा है। इसे बहुधा, हिन्दू-नीतिशास्त्र की संज्ञा भी दी जाती है।[1] यद्यपि यह मानना असंगत जैसा लगता है कि नीतिशास्त्र का विभाजन पाश्चात्य और हिन्दू या भारतीय नीतिशास्त्र में किया जाय; क्योंकि वैज्ञानिक चिन्तन किसी देश और काल का बन्दी नहीं होता, फिर भी आचार-संबंधी सिद्धान्त पर कुछ भौगोलिक असर पड़ता ही है। इस दृष्टिकोण से यह विभाजन निराधार नहीं कहा जा सकता है।

भारतीय नीतिशास्त्र से मेरा तात्पर्य भारतवर्ष में वैदिक काल से लेकर आज तक के प्रचलित नीति-संबंधी चिन्तनों से है। यहाँ नीतिशास्त्र के अर्थ का स्पष्टीकरण कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। पाश्चात्य परम्परा में इसकी अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। सिजविक ने इसे नियमित मानवीय आचरण की चरम समस्याओं का क्रमिक अध्ययन कहा है।[2] मैकेन्जी के अनुसार आचार-विज्ञान मानवीय जीवन में उपस्थित आदर्श का विज्ञान एवं सामान्य अध्ययन है।[3] रैशडल

1. Maitra, S. K. : *The Ethics of the Hindus*
2. "Ethics is the systematic study of the ultimate problems of right human conduct." —*Sidguick*
3. "The study of what is right or good in conduct" or "the science of ideal involved in human life." —*Mackenzie*

के विचार में नीतिशास्त्र शुभ तथा अशुभ का वह सिद्धान्त है, जिसका लक्ष्य मानव मात्र का कल्याण है ।

ड्यूई के अनुसार आचार-विज्ञान का विषय व्यवहार का सत् और शुभ खोज निकालना है । इसी प्रकार मूर ने भी आचार-विज्ञान को परम शुभ (Supreme good) का विज्ञान कहा है । अरबन के अनुसार साधन मूल्यों का विज्ञान अर्थ-विज्ञान है तथा स्वयंसिद्ध मूल्यों का विज्ञान नीति-विज्ञान है ।

भारतीय परम्परानुसार नीतिशास्त्र दो शब्दों के मेल से बना है—'नीति' और 'शास्त्र' । संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'शास्त्र' शब्द 'शिष्यतेऽनेन=शास् + ष्ट्रन' से बना है । इसका अर्थ होता है—आज्ञा, समादेश, नियम, विधि और किसी विषय पर समष्टि-अध्ययन का संचित भण्डार; जैसे वेदान्तशास्त्र, न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि । 'शास्त्र' के लिए ज्ञान, विद्या या विज्ञान आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है । 'शास्त्र' वह ग्रन्थ या ज्ञान की शाखा है, जिसमें हमें किसी वस्तु के संबंध में इस प्रकार की शिक्षा मिले, जिसके द्वारा हम जीवन और विश्व की वस्तुओं का नियन्त्रण या नियमन कर सकें । भारतवर्ष में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में होता है, जिस अर्थ में पाश्चात्य परम्परा में 'विज्ञान' शब्द का । संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'विज्ञान' शब्द वि + ज्ञा + ल्युट् से बना है जिसका अर्थ होता है—ज्ञान, बुद्धिमता तथा सांसारिक या लौकिक ज्ञान । जिस प्रकार विज्ञान हमें किसी वस्तु का विशिष्ट ज्ञान देता है, उसी प्रकार 'शास्त्र' के माध्यम से भी हम किसी वस्तु को भलीभाँति समझते हैं । शास्त्र हमें किसी विषय के संबंध में उसके स्वरूप, प्रयोजन और मौलिक आधारों का विशेष और सर्वांगीण ज्ञान प्रदान करता है । 'विज्ञान' और 'शास्त्र' बिलकुल पर्यायवाची शब्द नहीं हैं । विज्ञान एक विशेष प्रकार का ज्ञान है, जो कि एक विशेष रीति से निरीक्षण और प्रयोग द्वारा प्राप्त किया जाता है । इसका निष्कर्ष सार्वभौम, असंदिग्ध और निश्चित होता है तथा इसके द्वारा वस्तुओं के स्वरूप का इतना ज्ञान हो जाता है कि हम इसका नियंत्रण और उपयोग कर सकें । 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग भारतवर्ष में वैसे ज्ञान के लिए किया जाता है, जो विज्ञान की भाँति हमें साधारण ज्ञान से अधिक गहरा, निश्चित और सर्वव्यापी ज्ञान देता है । यह ज्ञान बहुत कुछ ऋषियों और महात्माओं की समाधि की अवस्था में ज्ञेय पदार्थों के साथ-तादात्म्य अनुभव पर आधारित रहता है, जो कि पूर्ण, अबाध, निरपेक्ष और यथोचित होता है । ऐसे ज्ञान की प्रामाणिकता एवं प्रायोगिक महत्त्व के संबंध में वर्तमान समय में पाश्चात्य देशों में अनेक अनुसंधान परा-मनोविद्या (Para Psychology) तथा आध्यात्मिक या आत्मिक खोज (Psychical research) में किए जा रहे हैं । इस तरह विज्ञान

का आधार निरीक्षण एवं प्रयोग है, जबकि शास्त्र का आधार ऋषियों का समाधिगत अनुभव या योग है। इस प्रकार शास्त्र और विज्ञान में कुछ अन्तर होते हुए भी दोनों का बहुधा समानार्थक रूप में प्रयोग किया जाता है।

'नीति' शब्द संस्कृत-परम्परा के अनुसार नी + क्तिन् से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—ले जाना, निर्देशन, दिग्दर्शन, प्रबन्ध, आचरण, औचित्य आचारशास्त्र आदि। 'नीति' शब्द से यहाँ अभिप्राय है, "वे नियम, जिनपर चलने से मनुष्य का ऐहिक, आमुष्मिक और सनातन कल्याण हो, समाज में स्थिरता और संतुलन रहे, सब प्रकार से अभ्युदय हो, और विश्व में शान्ति रहे अर्थात् जिन नियमों के पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का ही श्रेय हो।"[1]

इस प्रकार भारतीय नीतिशास्त्र में भारत मे लिखेग ये उन सब ग्रन्थों का समावेश हो जाता है, जिनमें इन बातों पर विचार हो—'जीवन क्या है? इसका क्या उद्देश्य है? इसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है? व्यक्ति का समाज से क्या संबंध है? जीवन में किन-किन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए और किन इच्छाओं का त्याग करना चाहिए ताकि हम सुख और शान्ति से रह सकें और समाज में रहने वाले दूसरे व्यक्तियों के साथ संघर्ष न हो? समाज में कैसे सब लोगों को सुख और शान्ति मिले।

इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के (जिनका जीवन के साथ बड़ा गहरा संबंध है) समाधान के वेदों से लेकर आधुनिक विचारकों तक की पुस्तकों में प्रयास पाए जाते हैं। अत: जिन सब भारतीय ग्रन्थों में नीति, आचार, धर्म और आध्यात्मिक साधना-संबंधी चर्चा पायी जाती है, वे सब भारतीय नीतिशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनमें मात्र नीति के ही उपदेश हैं (जैसे विदुर-नीति, शुक्रनीति, चाणक्य-नीति, भर्तृहरि का नीति-शतक इत्यादि)। कुछ ग्रन्थों में नीति की शिक्षा के साथ-साथ धर्म, दर्शन तथा कर्मकाण्ड आदि विषय भी सम्मिलित किए गए हैं, जैसे उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण आदि।

भारतीय नीतिशास्त्र के उद्‌भव और विकास का इतिहास लिखना अत्यन्त कठिन है। इसके दो कारण हैं—एक तो इसकी उत्पत्ति अति प्राचीन है। वैदिक युग से पूर्व भी भारतवर्ष में मौखिक नैतिक शिक्षाएँ दी जाती थीं और वैदिक युग के बाद जबसे भारत में लेखन-कला का उद्‌भव हुआ तबसे लेकर आजतक नीति-विषयक इतने ग्रन्थ लिखे गए हैं कि उनका छोटे आकार की पुस्तक में संकलन करना बड़ी कठिन समस्या है। एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि नैतिक विवेचन

1. डॉ० भी० ला० आत्रेय : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, हिन्दी-समिति, सूचना विभाग, उ० प्र० १९६४; पृ० ६१२।

या नीति-संबंधी प्रश्नों को दूसरे अनेक प्रश्नों (जैसे धर्म, दर्शन, परलोक, कर्मकाण्ड आदि अन्य जटिल प्रश्नों) के साथ मिश्रित कर दिया गया है। भारतीय दर्शन में एक ही साथ धर्म, दर्शन और नैतिक समस्याओं को समाविष्ट करने को प्राचीन काल से प्रचलित परिपाटी भी है। इतना ही नहीं, प्रायः प्राचीन लेखकों ने अपने संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। यहाँ तक कि कई ग्रन्थों में लेखक के नाम का भी उल्लेख नहीं है। इसलिए भारतीय दर्शन और नीतिशास्त्र का प्रामाणिक उद्भव और ऐतिहासिक विकास लिखने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।[1]

## (ख) उद्भव और क्रमिक विकास :

पाश्चात्य नीतिशास्त्र की तरह भारतीय नीतिशास्त्र का भी क्रमिक विकास हुआ है। यह अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है कि दोनों में किसको अधिक प्राचीन माना जाय। वास्तव में नीतिशास्त्र का संबध नैतिक जीवन की समस्याओं से है और नैतिक जीवन का इतिहास मानव की संस्कृति से आरम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिम में मिस्र तथा यूनान की और पूर्व में भारत तथा चीन की संस्कृति प्राचीनतम हैं। पश्चिमी विचारक प्रायः भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के अध्ययन की कमी के कारण प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का श्रीगणेश यूनान की संस्कृति से ही मानते हैं इन लोगों के अनुसार आचार-संबंधी दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन संभवतः सबसे सबसे पहले यूनान में ही हुआ। किन्तु इस विचारधारा में केवल आंशिक सत्यता है। अमेरिकी विचारक हॉपकिन्स ने इस पाश्चात्य धारणा की आलोचना करते हुए भारतीय नीति-विज्ञान को ही प्राचीनतम माना है। उसने लिखा है कि यद्यपि पश्चिम ने भारतीय मस्तिष्क को वर्षों पहले ढूँढ़ निकाला था और आज भी अगणित बौद्ध गाथाओं की चर्चा करता है, तथापि भारतीय धर्मों के अन्तरंग का पूर्ण परिचय कम ही लोगों को है। बहुत से लोग यह भी नहीं जानते कि भारतीयों ने क्या चिन्तन किया और क्या कहा है। जहाँ तक भारतीय नीतिशास्त्र का संबंध है, वह यूरोप और अमेरिका के लिए अधिकांशतः अज्ञात क्षेत्र है। यह जानकर बहुतों को खुशी होगी कि इसाई-युग से बहुत पूर्व भारत में सत्य, उदारता, हृदय की दयालुता, आत्मा की पवित्रता, क्षमा तथा दया के आदर्श दैनिक जीवन के सिद्धान्तों के रूप में सिखलाए जाते थे।[2]

---

1. ऐतिहासिक वर्णन के लिए डा० भी० ला० आत्रेय की पुस्तक **भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास** देखें।

2. "Although the west discovered mental India years ago and now talks quite glibly with its imagined 'Millions of

जहाँ तक भारतीय नीतिशास्त्र की प्राचीनता का प्रश्न है, इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि यह उतना प्राचीन अवश्य है जितनी वैदिक संस्कृति। **वेदों** में देवताओं को ऋत एवं नैतिक नियमों का संरक्षक माना गया है। **उपनिषदों** में भी स्पष्टतः सत्-असत् का भेद किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि ईश्वर मनुष्य को असत् से सत् की ओर प्रेरित करे—**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतंगमय।** **कठोपनिषद्** में तो यहाँ तक कहा गया है कि मनुष्य के पास श्रेय और प्रेय दोनों उपस्थित होते हैं किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति विवेक के द्वारा उन दोनों में भेद करता है और प्रेय का त्याग कर श्रेय का वरण करता है। मूर्ख व्यक्ति श्रेय का त्याग कर प्रेय का ग्रहण करता है। जो व्यक्ति श्रेय का निर्वाचन करता है, वह श्रेष्ठ है और जो श्रेय को छोड़कर प्रेय की ओर जाता है, वह अपने लक्ष्य से च्युत होता है।[1]

धर्मशास्त्रों में विशेषकर नैतिक सिद्धान्तों की ही व्याख्या की गई है। **महाभारत** के शान्ति-पर्व में भीष्म ने नीतिशास्त्र का आदि स्रोत और लेखक **ब्रह्मा** को ही बतलाया है। ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों का एक ऐसा नीतिशास्त्र रचा था, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था।[2] प्राचीन भारतीय दर्शनों में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं। ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वास्तव में ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के नैतिक जीवन एवं व्यक्तित्व के विकास के चार प्रमुख अंगों से सम्बद्ध हैं। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में, चाहे वे वेदों को प्रमाण मानते हों या नहीं, उपर्युक्त चारों पुरुषार्थों को मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए प्रमुख साधन माना गया है।

---

Buddhists.' yet apart from some erroneous familiarity with Indian religions, there is little known in this country of what the Hindus have thought and said; as far the field of Hindu ethics, it is terra incognitia to Europe and America .. It will be a pleasure to many and grief to none to know that truthfulness, generosity, kindness of heart, purity of soul, forgiveness, and compassion were taught in India as everyday precepts long before the Christian era."

—*Hopkins, E. W. :* **Ethics of India, P. IX**

1. **कठोपनिषद्,** १।२।२, **श्वेता०** ६।६।
2. **महाभारत,** शान्ति-पर्व, ५९।२९।

जिस प्रकार पाश्चात्य नीतिशास्त्र के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं— (i) ग्रीक या प्राचीन नीतिशास्त्र, (ii) मध्यकालीन नीतिशास्त्र, (iii) आधुनिक चिन्तनधारा और (iv) समकालीन अधिनीतिशास्त्र—ठीक उसी प्रकार भारतीय नीतिशास्त्र के भी क्रमिक विकास की चार प्रमुख अवस्थाएँ हैं—

(१) प्राचीन भारतीय नैतिक चिन्तन;

(२) मध्यकालीन संतों के नैतिक उपदेश;

(३) उन्नीसवीं शताब्दी के धर्मसुधारकों के नैतिक विचार, और

(४) आधुनिक नैतिक चिन्तन धारा।

वेदों से लेकर आज तक के नैतिक चिन्तन पर पर विहंगम-दृष्टि डालने से ऐसा मालूम पड़ता है कि नैतिक चिन्तनधारा में यद्यपि क्रान्तिकारी परिवर्त्तन होते आए हैं, तथापि इसके अधिकांश विचार सनातन ही रहे हैं। भारतीय नैतिक चिन्तन की पृष्ठभूमि विभिन्न परिवर्त्तनों के बावजूद एक-सी ही रही है। इस विकास परम्परा की तुलना व्यक्ति के जीवन के शारीरिक एवं मानसिक विकास से की जा सकती है। जिस प्रकार व्यक्ति में कालक्रम से बहुमुखी विकास होने पर भी उसमें कुछ मौलिक समानता रह ही जाती है। अन्य देशों के नैतिक चिन्तन से भिन्न भारतीय नीतिशास्त्र की यह विशेषता है कि नए विचारों के उद्भव होने पर भी प्राचीन विचार पूर्णतः नष्ट नहीं हुए हैं। यहाँ तक कि पुराने विचारों ने नए विचारों के आने पर उनका न विरोध किया और न उनके विकास के मार्ग को ही अवरुद्ध किया। इस तरह की त्याग एवं सहिष्णुता की भावना भारतीय नीति एवं धर्म को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ सदा नए और पुराने विचारों में समन्वय और आदान-प्रदान होते रहे हैं।

भारतीय नीतिशास्त्र के लंबे क्रमिक विकास के इतिहास में जिन ग्रन्थों एवं विचारकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, वे हैं—वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत, गीता, दर्शन-ग्रन्थ, मध्ययुगीन संतों की बाणियाँ, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख धर्म-सुधारक तथा समकालीन नेता, जैसे—महात्मा गांधी, विनोबा आदि। यद्यपि इन ग्रन्थों एवं विचारकों ने नई-नई उद्भावनाएँ की हैं तथापि किसी ने ऐसा दावा नहीं किया है कि उनके विचार ही सबसे नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ तक कि कई विचारकों ने वेदों, उपनिषदों एवं गीता को अपने विचारो का मूल-स्रोत स्वीकार किया है, जिन्हें हम आज अत्यन्त क्रान्तिकारी या युगान्तरकारी चिन्तक एवं सुधारक कहते हैं; जैसे राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, महात्मा

गांधी, विनोबा आदि; वे भी प्राचीन नैतिक ग्रन्थों एवं परम्पराओं की ही दुहाई देते हैं। महात्मा बुद्ध ने तो स्पष्टतः अपने धर्म प्रचार के प्रसंग में कहा है कि उनका नैतिक उपदेश सनातन धर्म है—'एस धम्मो सनातनो'। इस प्रसंग में श्रीमती एनी बेसेंट के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति को समादर ही नहीं दिया है, बल्कि उपनिषदों एवं गीता को अपने नैतिक जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते हुए स्वीकार किया है कि 'भारत के प्रायः सभी महान् दार्शनिकों ने—शंकराचार्य से लेकर अरविन्द तक—वेदों, उपनिषदों और गीता के ही विचारों का प्रतिपादन करना अपना उद्देश्य समझा और वही किया भी।

दूसरी तरफ, पाश्चात्य देशों में यदि पुरानी बात भी नई बनाकर (यानी पुरानी शराब को नई बोतल में ढालकर) नहीं कही जाय तो लोगों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता। इसके विपरीत भारतीय परम्परा में जबतक किसी नई विचारधारा को भी पुरातन एवं सनातन नहीं कहा जाए या प्राचीन से सामंजस्य स्थापित नहीं किया जाय तबतक लोग उसका आदर नहीं करते और न उसे मानने के लिए तैयार ही होते हैं। ऐसा लगता है, जैसे भारतीयों को प्राचीनता से मोह है और पाश्चात्यों के लिए नवीनता ही आकर्षण-केन्द्र है। पाश्चात्य देश मानते हैं कि सभ्यता एवं संस्कृति दिन-पर-दिन विकसित हो रही है, किन्तु हमारे यहाँ लोगों की धारणा है कि नैतिक मूल्य शाश्वत हैं। कुछ चिन्तकों की यह शिकायत है कि हम पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की चकाचौंध की नकल करने में ही अपनी बहादुरी समझते हैं और इस कारण हमारी संस्कृति एवं सभ्यता का बड़ी तीव्र गति से ह्रास हो रहा है।

## भारतीय नीतिशास्त्र के क्रमिक विकास की प्रमुख अवस्थाएँ

### (१) प्राचीन भारतीय नैतिक चिन्तन :

इस युग के प्रमुख नैतिक ग्रन्थ हैं—वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, धर्मसूत्र, स्मृति-ग्रन्थ रामायण, महाभारत, गीता, योगवासिष्ठ, पुराण, आस्तिक दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थ, जैन तथा बौद्ध-दर्शनों के नीतिशास्त्र से संबंधित ग्रन्थ, कुछ स्वतंत्र नीति-ग्रन्थ; जैसे शुक्रनीति, चाणक्य-नीति, कामन्दकीय नीति, नीतिशतक आदि।

**वेद** भारतीय नीतिशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वैदिक युग के जीवन का उद्देश्य सुख और ऐश्वर्य था। इस युग में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति थी। पूरे सौ वर्षों तक जीने की और ऐहिक सुखों का सभी इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने की कामना की जाती थी। लोग बुढ़ापा, रोग और अकाल-मृत्यु से बचने के उपाय करते थे। उनमें राष्ट्रीय भावना भी थी और राष्ट्र को सुखी-सम्पन्न

एवं शत्रुओं पर विजयी देखना चाहते थे। इन सभी प्रकार के लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए विभिन्न देवताओं की पूजा, प्रार्थना, यज्ञादि कर्म किए जाते थे। उस समय का समाज चार वर्णों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है मरने के बाद स्वर्ग की प्राप्ति एवं अमरत्व की कामना और इसका प्रमुख साधन यज्ञादि कर्म। यह युग प्रार्थना-प्रधान था।

**वेदों** के बाद **ब्राह्मण-ग्रन्थों** का प्रचलन हुआ। इस समय लोगों के जीवन का आदर्श भी प्रायः वही था, जो वेदों के समय में था। अन्तर सिर्फ यही था कि जहाँ पर वेदों के समय में प्रार्थना एवं उपासना मुख्य थी, वहाँ ब्राह्मण युग में अनेक प्रकार के यज्ञों के विधान प्रचलित हुए। दमन, दया और दान का भी महत्व बढ़ गया। इस समय भी वर्ण-व्यवस्था पर बल था। इस समय में अनेक प्रकार के ऋण—देव-ऋण (देवताओं की प्रार्थना), ऋषि ऋण (वेदादि का अध्ययन) और पितृऋण (पूर्वजों या पितरों का तर्पण तथा संतान उत्पन्न करना) आवश्यक माने जाते थे।

**उपनिषदों** के समय में भारतीय नैतिक चिन्तन में एक प्रमुख परिवर्तन हुआ, जिसमें वाह्याडम्बर से अधिक आन्तरिक निरीक्षण एवं विकास पर बल दिया गया। इस युग में लौकिक सुखोपभोग से विरक्त हो आत्मचिन्तन एवं परमतत्व की प्राप्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि परमतत्त्व के ज्ञान से जो आध्यात्मिक आनन्द मिलता है, वह बाहर के विषय-भोग से संभव नहीं है। इस स्थिति में लीन हो जाने पर दुःख, शोक एवं भय का भी पता नहीं रहता। उपनिषद्-काल की प्रमुख विशेषता है आत्मतत्त्व एवं परमतत्त्व की खोज। इस समय के ऋषियों एवं अन्वेषकों का लक्ष्य था मोक्ष, और मार्ग था आत्मज्ञान। इसके लिए मन की पवित्रता, बुद्धि की कुशाग्रता और पूजा की जागृति आवश्यक थी। ऐसा माना जाता था कि जिनको साधना द्वारा ब्रह्मानुभव हो जाता है, वे संसार की सभी संपत्तियों को इसकी तुलना में तुच्छ समझते हैं। वैदिक युग की उपासना की इस युग में अवहेलना की गयी तथा संसार-सागर को पार करने के लिए यज्ञादि की तुलना असुरक्षित नौका से की गई। कालक्रम में वैदिक काल की सुख लिप्सा का उपनिषद्कालीन आत्मज्ञान, योग और निवृत्ति मार्ग के साथ समन्वय किया गया। चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—आदर्श जीवन के प्रमुख अंग माने जाने लगे।

**धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों और स्मृतियों** का उदय उपनिषद्-काल के बाद हुआ। इन ग्रन्थों में वैयक्तिक जीवन के विकास के लिए विभिन्न नैतिक नियम बनाये गये जिनको विभिन्न लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का साधन बताया गया।

सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार कर्म करने पर विशेष बल दिया गया। इन ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा मालूम पड़ता है कि उस समय का भारतीय जीवन विभिन्न नैतिक नियमों से जकड़ा हुआ था। धर्म के अनुकूल आचरण करने वाले को महत्व दिया जाता था और इसके विपरीत आचरण करने वालों की निन्दा की जाती थी। धर्म ज्ञान के लिए महापुरुषों के उपदेशों और आचरणों का प्रचार भी साधारण जनता में किया जाता था। धर्म-पालन के लिए प्राणों का त्याग भी श्रेयस्कर समझा जाता था।

**रामायण एवं महाभारत** भारत के दो प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ हैं। इनका प्रमुख विषय धर्म, नैतिक शिक्षा तथा राजनीति है। इन ग्रन्थों में धर्म एवं अधर्म, नीति तथा अनीति के मार्ग पर चलने वालों के अच्छे और बुरे परिणामों को दिखलाया गया है। किस समय कैसा आचरण करना चाहिए, क्या धर्म है, क्या अधर्म है—इन सब बातों को महापुरुषों के चरित्रों के उदाहरण द्वारा, अन्य लोगों के उपदेशों, विचारों और कथनों के द्वारा भी दिखलाया गया है। **रामायण** में राम को एक आदर्श महा-पुरुष, मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया गया है। राम का पूरा जीवन आज्ञा पालन, अधर्म एवं अनीति के उन्मूलन का आदर्श है। आज्ञापालन एवं लोक कल्याण के लिए वे राज्य एवं पत्नी तक का परित्याग करने में भी नहीं हिचकिचाते। उसी तरह **महाभारत** में युधिष्ठिर को धर्म एवं सत्य के अवतार के रूप में, भीम को व्रतपालक और धर्मोपदेशक के रूप में, कृष्ण को अपने युग के महान् राजनीतिज्ञ—जिसमें सभी उत्तम गुणों का अपूर्व समन्वय है—के रूप में दिखलाया गया है। महा-भारत में अनेक उच्चकोटि के महापुरुषों के चरित्रों एवं विविध उपदेशों का संकलन है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की भारतीय संस्कृति पर इतनी अमिट छाप पड़ी है कि आज भी इन ग्रन्थों का उदाहरण दिया जाता है। वास्तव मे धर्माधर्म के विवेचन में ये ग्रन्थ अनुपम और अमूल्य हैं। इन दोनों ग्रन्थो की प्रमुख विशेषता है महापुरुषों के जीवन-चरित्र द्वारा साधारण जनता को धर्मादि चारो पुरुषार्थों की आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करना। इन दोनो ग्रन्थों से दो बड़े उच्चकोटि के नैतिक एवं अध्या-त्मिक ग्रन्थ उत्पन्न हुए हैं, जिनसे संक्षिप्त रूप में नैतिक उपदेशों का संकलन है। ये हैं—रामायण से उत्पन्न **योगवासिष्ठ** तथा महाभारत से उत्पन्न **भगवद्गीता**। **योग-वासिष्ठ** में जो एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है, ऋषि वशिष्ठ ने श्रीराम-चन्द्र को अनेक प्रकार के नैतिक एवं आध्यात्मिक उपदेश दिए हैं, जिनसे वे बाद में चलकर मर्यादा पुरुषोत्तम बन सके। योगवासिष्ठ में मानव को अपने पैरों पर खड़ा होने तथा वर्णाश्रम-धर्म, योग एवं परमतत्व की शिक्षा दी गयी है। इस ग्रन्थ में इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि शरीर-निर्माण और परिवर्तन, यौवन, वृद्धत्व

मृत्यु, परलोक एवं सब प्रकार की सिद्धियाँ, बंधन एवं मोक्ष-सब मनुष्य के अपने मन की ही करामात हैं। मन एवं आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होते ही मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की सबसे पहली कल्पना इस ग्रन्थ की मौलिक उद्भावना है। इसमें तो यहाँ तक कहा गया है कि यह आदर्श केवल पुरुषों के लिए ही नहीं है, बल्कि स्त्रियाँ भी इसको प्राप्त कर सकती हैं। इस ग्रन्थ के विस्तृत नैतिक उपदेशों की जानकारी के लिए **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त**[1] विशेष रूप से उल्लेखनीय है। **भगवद्गीता** में जो महाभारत का एक भाग है, श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के माध्यम से मनुष्य को इस जीवन में उच्च-से-उच्च आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त करने का मार्ग दिखलाकर जन्म-मरण के चक्र और कर्मों के बंधन से छुटकारा पाने का मार्ग बतलाया गया है। भारतीय संस्कृति में गीता का जितना महत्वपूर्ण एवं आदर-युक्त स्थान है, उतना प्राय: किसी अन्य ग्रन्थ का नहीं। महात्मा गाँधी और आचार्य विनोबा ने तो इसे माता की संज्ञा दी है। यहाँ तक कि वेदान्त दर्शन के स्रोत ग्रन्थों—प्रस्थान-त्रयी में इसका प्रमुख स्थान है। इस ग्रन्थ का मुख्य प्रयोजन है निष्काम कर्मयोग की शिक्षा और साथ-ही-साथ वर्ण-व्यवस्था या वर्णों के अनुरूप कर्त्तव्य-सम्पादन तथा दैवी एवं आसुरी प्रकृतियों में भेद बतलाकर मनुष्य को दैवी गुणों की ओर प्रोत्साहित करना।

**पुराणों** में नैतिकता एवं आध्यात्मिकता संबंधी किसी विशेष नवीन सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं है। भारतीय परम्परा के अनुसार वेद, स्मृति और सदाचार को धर्म का आधार माना जाता है। पुराणों का समावेश सदाचार में होता है। देवी-देवताओं की पूजा, तीर्थ, व्रत तथा उसके फल आदि का बड़ा विस्तृत वर्णन पुराणों में उपलब्ध है। प्राय: अठारह पुराण किसी-न-किसी धार्मिक सम्प्रदाय के विश्वासों और प्रथाओं का समर्थन और प्रचार करने के उद्देश्य से लिखे गए हैं। उनमें बहुत-कुछ मिलती-जुलती विचारधाराएँ हैं; ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं कि मृत्यु के पश्चात जीव अपने कर्मों के फलों को भोगने के लिए स्वर्ग, नरक आदि विभिन्न लोकों में जन्म लेता है तथा अपने कर्मों के अनुरूप फल भुगतता रहता है; विभिन्न प्रकार की योनियों, स्वर्ग और नरक का भी वर्णन है। एक बात और उल्लेखनीय है कि पुराणों के अनुसार अपने-अपने आराध्य देवता की उपासना, पूजा और भक्ति से उत्तम से उत्तम लोक, यहाँ तक कि मोक्ष भी, प्राप्त किया जा सकता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए पुराणों में वर्ण-व्यवस्था पर बल दिया गया है तथा गौ और ब्राह्मण का महत्व सबसे अधिक बताया गया है।

---

1. डॉ० भीखनलाल आत्रेय : **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त**, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी (उ० प्र०), १९५७।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन नीतिशास्त्र के विकास में कुछ प्रमुख भारतीय दर्शनों का भी हाथ है। प्राचीन भारत में दो प्रकार की दार्शनिक विचार-धाराएँ प्रचलित थीं—नास्तिक और आस्तिक। नास्तिक दर्शन वेदों में, परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता था। आस्तिक दर्शनों में वेदों की प्रमाणिकता परलोक और पुनर्जन्म में विश्वास पाया जाता है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत आस्तिक माने जाते हैं। इन विभिन्न दर्शनो में भी नैतिक विचार हैं, जिसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है। चार्वाक को छोड़कर, जो भौतिकवादी या सुखवादी विचार धारा प्रस्तुत करता है तथा जीवन का उद्देश्य 'खाओ, पिओ और मौज से रहो को ही स्वीकार करता है, प्रायः अन्य सभी दर्शनों का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग बतलाना है।

## (२) मध्यकालीन संतों के नैतिक विचार :

भारतीय नीतिशास्त्र के विकास की दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था मध्ययुग के संतों का उपदेश है। इन संतों का भारत की नैतिक विचारधारा को कायम रखने में बड़ा योगदान है, कारण कि इन लोगों ने मुसलमानों के राज्य-विस्तार, आक्रमण और साथ-ही-साथ इस्लाम-धर्म के प्रचार के बावजूद साधारण जनता में हिन्दू-धर्म का संरक्षण किया। भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में इस तरह के संत-महात्मा थे। मध्ययुग में दो प्रकार के संतो का अभ्युदय हुआ—सगुणोपासक और निर्गुणोपासक। कुछ संत रामायण, महाभारत, पुराणादि की सनातन परम्परा से प्रभावित थे। ऐसे संतो में तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई आदि का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरी कोटि के वैसे सन्त थे, जिनके ऊपर अद्वैत वेदान्त और सूफी मत का अधिक प्रभाव था। ऐसे निर्गुण सन्तों में कबीर, नानक, दादू दयाल आदि विशेष उल्लेख-नीय है।

सगुणोपासक संत रामायण, महाभारत और पुराणों के आदर्श व्यक्ति के जीवन को अपने जीवन में ढालना एवं जनता में उनकी गाथा का गुणगान करना ही अपने जीवन का आदर्श मानते थे। दूसरी तरफ, निर्गुणोपासक संत निर्गुण रूप की उपासना करते थे। वे लोग सगुण-भक्ति, अवतारों, देवी देवताओं की उपासना तथा मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। इन दोनों ही प्रकार के संतों की विशेषता यह है कि इन्होंने हिन्दू-धर्म का संरक्षण और प्रचार कर जनता को नीति-मर्यादा के भीतर रखने का प्रयत्न किया। इस दिशा में उन्नीसवीं शताब्दी के धर्म-सुधारकों ने भी बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया।

### (३) उन्नीसवीं शताब्दी के धर्म-सुधारक :

हिन्दू-धर्म में पुनर्जागरण लाने एवं बाहर के धर्म के प्रभावों से, खासकर ईसाई धर्म-प्रसार से, हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति को बचाने का काम इन धर्म-सुधारकों ने प्रमुख रूप से किया। तत्कालीन हिन्दू-धर्म केवल मन्दिरों की पूजा तक ही सीमित रह गया था। ऐसे समय में उन सुधारकों का प्रादुर्भाव होना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। इस युग के धर्म-सुधारकों में—राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने सुदूर देशो तक हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति का प्रचार किया एवं विदेशों में भी मिशनरियों की स्थापना की। इस समाज-सुधार में श्रीमती एनी बेसेंट जैसी विदेशी ब्रह्म-समाजिनी महिला का नाम भी विशेष रूप से स्मरणीय है।

इन समाज-सुधारकों के उत्पन्न न होने से सारी भारतीय जनता निश्चित ही ईसाई बन गई रहती। जिस प्रकार भारतीय जनता को बौद्ध बनने से प्राचीन आचार्यों—शंकराचार्य आदि ने बचाया, मुसलमान बनने से मध्यकालीन संतों ने, ठीक उसी प्रकार हिन्दुत्व की रक्षा में इन सुधारकों का विशेष योगदान रहा है। इस युग के कम-से-कम पाँच व्यक्तियों एवं उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं ने ईसाई-धर्म के प्रसार को रोकने एवं हिन्दुत्व की रक्षा में प्रत्यक्ष रूप से योगदान किया। बंगाल में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म-समाज, महाराष्ट्र में महादेव गोविन्द रानाडे द्वारा स्थापित प्रार्थना-समाज, पंजाब और उत्तर प्रदेश में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा चलाया हुआ आर्य-समाज, मद्रास और बनारस में श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज (थियोसोफिकल सोसाइटी) और बंगाल से प्रारम्भ हो पाश्चात्य देशों—अमेरिका और यूरोप—में श्री कृष्ण परमहंस एवं उनके प्रखर शिष्य विवेकानन्द द्वारा संचालित सेवाश्रम आज भी हिन्दुत्व के गौरव-स्तम्भ है। इन धर्म-सुधारकों का प्रयास केवल हिन्दुत्व की रक्षा तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि राजनीतिक गुलामी की बेड़ियों को काटकर स्वतन्त्रता का नारा भी इन्हीं लोगों ने बुलन्द किया। अपने समाज, धर्म एवं संस्कृति को सर्वोपरि सिद्ध करने का जो प्रयास विवेकानन्द ने किया, वह भारतीय संस्कृति के प्रसार के इतिहास में अमर रहेगा।

### (४) आधुनिक नैतिक चिन्तनधारा :

आधुनिक युग ने नैतिक चिन्तकों में महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द घोष, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, संत विनोबा भावे आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू को छोड़कर प्रायः सभी समकालीन चिन्तक

वेदान्त, उपनिषद, गीता आदि प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों से अत्यधिक प्रभावित मालूम पड़ते हैं। ये लोग समाज में जाति-प्रथा के कोढ़ को समाप्त कर ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटाकर सभी क्षेत्रों में समानता या 'सर्वोदय' लाने में विशेष रूप से प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं, ये लोग एक ऐसे समाजवाद की स्थापना के लिए प्रयत्नशील मालूम पड़ते हैं, जिसके द्वारा सबका उत्थान एवं सबको बराबर विकसित होने का मौका मिले। इनकी शिक्षाएँ केवल भारतीयों का ही पथ-प्रदर्शन नहीं करती, बल्कि संसार के सभी मनुष्य उस मार्ग पर चलकर निकट भविष्य में विश्वशांति एवं सर्वतोमुखी समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं। राष्ट्रीय क्षेत्र में समाजवाद की स्थापना एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति—यही इन विचारकों की प्रमुख विशेषता रही है। ये सभी विचारक वैयक्तिक नैतिकता या मुक्ति की धारणा की आलोचना कर सामाजिक एवं सार्वभौम मुक्ति या सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय उत्थान, विश्व-शांति तथा विश्वसुरक्षा को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। सार्वभौम मुक्ति या विश्वशान्ति के अभाव में वैयक्तिक मुक्ति या समृद्धि की कल्पना ही निरर्थक है। आज का हमारा जीवन व्यक्ति या राष्ट्र तक ही सीमित नहीं है। इसलिए अन्तरराष्ट्रीय विश्वशान्ति एवं सुरक्षा ही आज के जीवन का सर्वोत्तम प्रश्न है।

## (ग) भारतीय नीतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ :

यह एक प्रचलित उक्ति है कि दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति का मानदंड है। प्रायः प्रत्येक देश के आध्यात्मिक, नैतिक एवं दार्शनिक चिन्तन पर उस देश की तत्कालीन परम्परा, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। भारतीय नैतिक चिन्तन भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ नैतिक आदर्शों के कार्यान्वियन में देश, काल एवं पात्र के अनुसार समय-समय पर परिवर्त्तन होता रहता है। हमारे यहाँ समय-समय पर विदेशियों के आक्रमण होते रहने से यहाँ के नैतिक चिन्तन में भी प्रत्येक युग में परिवर्त्तन होता रहा है। व्यक्ति के सामने जीवन के प्रश्नों एवं समस्याओं के बदलते रहने के कारण जीवन के लक्ष्यों में भी परिवर्त्तन होता रहा है। परन्तु इन विभिन्नताओं के रहते हुए भी कुछ बातों में प्रायः सभी परम्परावादी दर्शनों में साम्य है।

यहाँ यह मानकर चलना भ्रामक होगा कि भारतीय नीतिशास्त्र पाश्चात्य नीतिशास्त्र से एकदम भिन्न है, लेकिन यह सोचना भी उतना ही भ्रामक होगा कि दोनों ही पूर्णतः समान हैं। एक बात स्मरणीय है कि प्रायः प्रत्येक देश के नैतिक चिन्तन में मानव-जाति को सर्वोत्तम शुभ प्राप्त कराने के मार्ग का निर्देश है। भारतीय और पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में मौलिक अन्तर सर्वोत्तम लक्ष्य के स्वरूप

की व्याख्या और उसकी प्राप्ति की विधि के प्रश्न को लेकर है। इस अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि भारत में नैतिक चिन्तन पाश्चात्य देश के नैतिक चिन्तन की तुलना में एक दूसरे तरह के वातावरण एवं भिन्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुआ है।

दोनों तरह के चिन्तनों में प्रमुख अन्तर यह है कि भारतीय नैतिक सिद्धांतों का जीवन के साथ अवियोज्य संबंध रहा है। यहाँ नीतिशास्त्र व्यक्ति के आचरणों के सुधार का विज्ञान रहा है। यहाँ नीति का दर्शन से गठबन्धन रहा है तथा इसका सदा प्रयोजनवादी (Pragmatic) दृष्टिकोण रहा है। भारतीय नैतिक चिन्तकों के समक्ष दो प्रमुख प्रश्न रहे हैं—

(१) मानव-जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य क्या है ?

(२) किसी परिस्थिति-विशेष में मनुष्य को कैसा कर्त्तव्य करना चाहिए ? यही कारण है कि प्रत्येक परम्परावादी भारतीय दार्शनिक मत की अपनी एक आचार-संहिता है।

इस अध्याय का प्रमुख उद्देश्य भारतीय नीतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालना है।

भारतीय नीतिशास्त्र की सबसे प्रमुख विशेषता है कि यहाँ **पुरुषार्थ-साधन** को अनिवार्य लक्ष्य माना गया है। सभी परम्परावादी दर्शन जीवन के लक्ष्य को समझने के लिए दर्शन का परिशीलन आवश्यक मानते हैं। यहाँ दर्शन केवल बौद्धिक कौतूहल की निवृति-मात्र नहीं है, बल्कि यह जीवन के लिए अनेक ऐसे नैतिक मार्गो की शिक्षा देता है, जिनका निष्ठा से पालन करने पर मनुष्य सर्वोत्तम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ऐसे की खोज करता रहा है, जिनके अनुशीलन से मनुष्य नैतिक और आध्यात्मिक श्रेयो की प्राप्ति कर सकता है।

परम्परागत भारतीय नीतिशास्त्र की दूसरी विशेषता यह है कि प्रायः सभी चिन्तकों का लक्ष्य रहा है **व्यवहारिक उद्देश्यों की पूर्ति**। जीवन का सबसे बड़ी समस्या है—दुःख निवृति। दुःखों के कारण जीवन अनेक तरह से कष्टमय तो होता ही है, साथ-ही-साथ मन में सर्वदा अशान्ति बनी रहती है। वेद से लेकर वेदान्त तक के दर्शनों में जीवन में दुःख के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और सबने यह जानने का प्रयास किया है कि मनुष्य के दुःखों का कारण क्या है। दुःखों से किस तरह से सदा के लिए मुक्ति पाई जाती है ?

सभी परम्परागत चिन्तक अज्ञान को बंधन का कारण मानते हैं। वस्तुओं के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण के अभाव से ही शरीर बंधन में पड़ता है, फलतः वह अनेक प्रकार के दुःखो और यातनाओं का शिकार रहता है। प्राचीनकाल से ही

जैन-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, सांख्या वेदान्त आदि ने यह स्वीकार किया है कि जिस तरह सूर्य के उदय होते ही कुहरा घटने लगता है, ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के उदय होते ही इसी जीवन में दुःखों की आत्यन्तिक निवृति हो जा सकती है और मोक्ष पाया जा सकता है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि विभिन्न मत अलग-अलग मार्गों का प्रतिपादन करते हैं, तथापि सबका लक्ष्य एक ही है—जीवन के दुःखों से आत्यन्तिक निवृति।

भारतीय नीतिशास्त्र का कर्मवाद के सिद्धान्त में अटूट विश्वास है। यहाँ के अधिकांश दार्शनिक संसार को रंगमंच मानते हैं, जहाँ प्रत्येक मनुष्य को स्वेच्छया कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस प्रकार रंगमंच पर नाटक के पात्र सज-धजकर आते हैं और पात्र भेद के अनुसार नाट्य प्रदर्शन करके चले जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य इस संसार-रूपी रंगमंच पर शरीर, इन्द्रिय आदि उपकरणों से सज्जित होकर आता है तथा अपनी योग्यतानुसार कर्म करता है। भारतीय दार्शनिकों की मान्यता है कि इस संसार में मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसका तदनुरूप फल भी उसे भुगतना पड़ता है। कर्मवाद के माननेवालो का दावा है कि वर्त्तमान, भूत का परिणाम है तथा भविष्य का निर्माण वर्त्तमान में किए जानेवाले कर्मों के फल के अनुसार ही निर्धारित होगा।

भारतीय नैतिक चिन्तन का सर्वांगीण या बहुमुखी दृष्टिकोण रहा है। जब कभी भी भारतीय चिन्तकों ने जीवन और जगत् की समस्याओं के बारे में चिन्तन किया है, उस समय जीवन के समस्त अनुभवों, सभी वास्तविक और संभव पहलुओं भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक, भूत, भविष्य और वर्त्तमान, तथा लोक और परलोक सबको आत्मसात करते हुए या ध्यान में रखते हुए विचार व्यक्त किया है। जीवन का कोई आवश्यक अंग अधूरा न रह जाय, इसकी भरसक कोशिश की गई है। यही कारण है कि सभी विचारकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन का आदर्श या पुरूषार्थ स्वीकार किया है, जिसके द्वारा जीवन के सभी प्रकार के आवश्यक लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सके। इन लोगों का विश्वास था कि अगर जीवन का एक भी लक्ष्य अधूरा रह गया तो मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग से पदच्युत हो सकता है। यही कारण है कि जीवन की अवस्थाओं (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, संन्यास और वानप्रस्थ) का विभाजन किया गया और तदनुकूल लक्ष्यों और कर्त्तव्यों का पूरा करना आवश्यक माना गया है।

सभी चिन्तकों ने यह अनुभव किया कि मनुष्य का इन्द्रियजन्य अनुभव और ज्ञान अत्यन्त सीमित और दिक्-काल सापेक्ष है। केवल इन्द्रियानुभव तक ही अपने जीवन को सीमित करना उचित नहीं है। मनोविश्लेषकों ने भी कहा है कि मनुष्य

के जीवन का बहुत बड़ा भाग स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि से जुड़ा हुआ है, जो इन्द्रियों की पहुँच के बाहर है। इसीलिए ज्ञान एवं विचार को क्षुद्र इन्द्रिय-अनुभव तक ही सीमित नहीं रखकर तपस्या, ध्यान, योगाभ्यास एवं आत्मसमर्पण के द्वारा ब्रह्मानुभव को भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया हैं। इसकी वजह से लोगों में एक धारना-सी बन गई कि सभी ज्ञान, शक्तियाँ, लौकिक और पारलौकिक सुख-वैभव देवी-देवताओं की प्रसन्नता एवं प्रसाद से ही पाए जा सकते हैं। बिना सरस्वती की आराधना के, जो समस्त लौकिक ज्ञान की अधिष्ठात्री हैं, विद्या संभव नहीं है। वेद ईश्वर-प्रदत्त हैं। इसीलिए प्रायः सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ में प्रार्थना या मंगलाचरण का प्रचलन था।

प्रायः सभी चिन्तकों की यह धारणा रही है कि **बाह्य जगत् और आभ्यन्तर जगत् मे कोई तात्विक अन्तर नहीं है**—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' यहाँ के चिन्तकों में यह प्रचलित धारणा थी कि जिन-जिन शक्तियों का ज्ञान हम बाहर से आवाहन कर प्राप्त कर सकते हैं, उनका ज्ञान भीतर से भी हो सकता है। ईश्वर का ज्ञान एवं अनुभव बाह्य जगत् एवं अपनी अन्तरात्मा में भी किया जा सकता है। जो ज्ञान जितना ही गहरा होगा एवं ऊँचे स्तर से प्राप्त किया जाएगा, वह उतना ही मूल्यवान, सत्य, व्यापक एवं प्रभावोत्पादक होगा। नैतिक नियम, जो जीवन के लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं, का ज्ञान साधारण एवं संकुचित अनुभव से नहीं प्राप्त किया जा सकता। इन नियमों का ज्ञान उन्हीं व्यक्तियों को हो सकता है, जिनका दृष्टिकोण वैयक्तिक न होकर समष्टिगत या ब्रह्माण्डमय है। जिन व्यक्तियों को जीवन एवं जगत् का सूक्ष्म अनुभव है, वही जान सकते हैं कि मनुष्य का ब्रह्माण्ड में क्या स्थान है तथा उसका जगत् के अन्य प्राणियों के साथ क्या संबंध है। ऐसे ही समुन्नत व्यक्ति नैतिक नियम का निर्धारण कर सकते हैं। यह तभी संभव है जब आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य अनुभव हो। ऐसा अनुभव सभी व्यक्तियों को नहीं हो सकता। केवल ऋषि एवं महात्मा, जिनकी बुद्धि आत्म-साक्षात्कार के द्वारा सम हो गई है, इन तथ्यों का अनुभव कर सकते हैं। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में वेद, स्मृति और सदाचार को नैतिकता का आधार और अन्तरात्मा के भाव या विचार को चौथा प्रमाण स्वीकार किया गया है।

> **"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
> **एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्।"**[1]

चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय नैतिक चिन्तकों ने **धर्म एवं नीति को सर्वोपरि स्थान दिया है।** सभी चिन्तकों ने मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य

---

1. मनुस्मृति, २।१२।

स्वीकार किया है। यद्यपि यह बात सही है कि जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की कल्पना की गई है, तथापि अर्थ और काम को केवल लौकिक जीवन के लिए ही सहायक माना गया है। सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए संपत्ति की आवश्यकता है। सहज प्रवृत्तियों और वासनाओं की पूर्ति आवश्यक है। सांसारिक सुख-प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकती; क्योंकि ये सुख क्षणिक और अंत में दुःख देनेवाले होते हैं। परन्तु अर्थ और काम के उपभोग के लिए धर्म की आवश्यकता पड़ती है; क्योकि धर्म के द्वारा ही हमारा पारस्परिक सामाजिक व्यवहार नियंत्रित होता है, जिसकी अवहेलना से समाज की सुव्यवस्था समाप्त हो जाती है और लोगों में द्वेष, वैरभाव, लड़ाई-झगड़े, मार-काट आदि होते हैं तथा परस्पर प्रेम की कमी हो जाती है। इतना ही नहीं, धर्म की अवहेलना से अर्थ और काम की प्राप्ति में भी बाधा पड़ती है। धर्म-मार्ग का अनुसरण करके ही मनुष्य धन की प्राप्ति एवं विषयों का उपभोग शान्ति से कर सकता है। इसीलिए नैतिक चिन्तकों ने यह परामर्श दिया था कि धर्म-मार्ग का अनुसरण करते हुए ही मनुष्य अर्थ की प्राप्ति एवं विषयों का उपभोग करे। इतना होते हुए भी भारतीय नैतिक चिन्तकों ने धर्म, अर्थ और काम को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार नहीं किया। चरम लक्ष्य की इन पुपषार्थों से भी ऊँचा माना गया, जिस अवस्था में मनुष्य को निरुपाधिक, अखण्ड एवं शाश्वत आनंद का अनुभव होता है। इव अवस्था के प्राप्त हो जाने से मनुष्य के सारे दुःखों की आत्यण्तिक निवृत्ति हो जाती है और जीवन-मअन का फेरा समाप्त हो जाता है। इस अवस्था को भारतीय नीतिशास्त्र में 'मोक्ष', 'निर्वाण', 'कैवल्य', 'अपवर्ग', 'ब्राह्मी-स्थिति', 'मुक्ति', 'वोधि', 'सिद्धि' आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम को मोक्ष के सहायक रूप में स्वीकार किया गया है। पहले के तीन पुरुषार्थ सापेक्ष शुभ हैं और केवल मोक्ष ही निरपेक्ष शुभ है।

एक बड़ी विशेषता है, जो भारतीय नीतिशास्त्र (खासकर प्राचीन नीतिशास्त्र) को छोड़कर अन्यत्र कही उपलब्ध नही है, और वह है **सामाजिक व्यवस्था पर बल देना**। प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम को सामाजिक सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य माना गया है। यद्यपि आधुनिक भारतीय नीतिशास्त्र में इसकी बड़ी कटु आलोचना की गई है और आज तो यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है, तथापि प्राचीन भारतवर्ष में इसका कड़ाई से पालन किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करना पड़ता था। उसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था का भी प्रचलन था। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के अलग-अलग धर्म थे। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों—वेद,

ब्राह्मण-ग्रन्थ, स्मृति-ग्रन्थ, रामायण, महाभारत गीता, पुराण आदि में इस वर्णाश्रम-व्यवस्था की दुहाई दी गई है। इसकी विस्तृत चर्चा के लिए वर्णाश्रम-धर्म के अध्याय में है।

भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों का यह विश्वास है कि **नीतिशास्त्र में केवल सनातन तथ्यों का ही प्रतिपादन नहीं है, बल्कि नैतिक नियमों का निर्णय भी है।** यहाँ के नीतिशास्त्रज्ञों ने विस्तृत रूप से यह विचार किया है कि किसी विशेष युग, विशेष देश और विशेष परिस्थिति में किस प्रकार के नैतिक नियम का पालन करना चाहिए। यहाँ के नैतिक चिन्तक इतने उदार थे कि उन्होंने किसी निर्णय तक पहुँचने के लिए किसी विशेष ग्रन्थ या नियम को ही सार्वभौमिक रूप से सर्वदा के लिए मान्य नहीं स्वीकार किया, बल्कि निर्णयों के चुनाव में वैयक्तिक चयन को महत्त्व दिया है। कर्त्तव्य-निर्णय में श्रुति, स्मृति, सदाचार और अन्तरात्मा का निर्णय—ये सभी समान रूप से महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं।

भारतीय चिन्तन की एक यह भी विशेषता है कि यहाँ **धर्म, दर्शन और नीति में पूर्ण पृथक्ता नहीं मानी गई है।** एक को दूसरे के ऊपर निर्भर माना गया है। यहाँ सदा से यह धारणा प्रचलित रही है कि बिना नैतिक पवित्रता के सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, बिना बुद्धि के द्वारा सद्-असद्-विवेक किए मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। श्रद्धालु व्यक्ति को ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है—**"श्रद्धवान् लभते ज्ञानम्।"** ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है—**"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।"** यहाँ दर्शन का जीवन एवं चारित्रिक पवित्रता से अवियोज्य संबंध स्थापित किया गया है। यही कारण है कि यहाँ दार्शनिक उच्च कोटि के आचार-निष्ठा एवं चरित्रवान् व्यक्ति हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन और नैतिक स्तर सामान्य व्यक्तियों से बहुत ऊँचा रहा है और उन्होंने सदा दूसरों के उपकार को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझा है—**"परोपकाराय सतां विभूतयः"; "सर्वभूतहिते रताः"।** इस प्रकार भारतीय परम्परा में नीति, धर्म और दर्शन एक-दूसरे के पूरक माने जाते हैं।

**(घ) भारतीय एवं पाश्चात्य नीतिशास्त्र की तुलना :**

यह बड़े हर्ष की बात है कि भारतीय नीतिशास्त्र का अब पाश्चात्य नीतिशास्त्र के ही समान आलोचनात्मक अध्ययन होने लगा है।

भारतीय और पाश्चात्य नीतिशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना कठिन है; कारण कि स्वयं भारतीय नैतिक चिन्तकों में से किसी एक ने भी इस प्रश्न को नहीं उठाया है और न इस विषय पर चिन्तन करना ही आवश्यक समझा

1. भगवद्गीता, अध्याय ४।३९।

है। प्राय: सभी भारतीय चिन्तक इतने आत्मकेन्द्रित रहते थे कि उन्हें पता ही नहीं था कि पाश्चात्य विद्वान् नैतिक समस्याओं का किस प्रकार समाधान कर रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय नीतिशास्त्र को धर्म की संज्ञा देकर ही तुलनात्मक विवेचन करना अनावश्यक समझा है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय एवं पाश्चात्य नैतिक विचारों तथा सिद्धान्तों का तुलनात्मक, विवेचनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन हो, इसकी वर्त्तमान युग में बड़ी आवश्यकता है।

दोनों ही चिन्तन-धाराओं में जीवन के चरम शुभ का विस्तृत विवेचन किया गया है।

दोनों ही मानवीय आचरण का मानदंड निर्धारित करने का प्रयास करते हैं।

दोनों ने ही इतिहास की बदलती हुई परिस्थितियों में व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय जन-जीवन को जितना प्रभावित वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, गीता आदि सद्ग्रन्थों ने, कबीर आदि संतों ने तथा विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती राजा राममोहन राय, तिलक, गांधी, विनोबा आदि महापुरुषों ने किया है, ठीक उसी प्रकार पाश्चात्य जगत् में सुकरात, अरस्तू, ऑगस्टीन, एक्वीनस आदि सन्तों एवं स्पीनोजा ह्यूम, काण्ट, ग्रीन, मार्क्स तथा समकालीन पाश्चात्य चिन्तकों ने किया है। इन दोनों ही भूभागों की नैतिक चिन्तनधाराओं ने सामाजिक क्रान्ति लाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

परन्तु इतनी समानता होते हुए भी जीवन-निर्माण या चरित्र-निर्माण के साथ जितना घनिष्ठ संबंध भारतीय नीतिशास्त्र का है उतना पाश्चात्य नीतिशास्त्र का नहीं। खासकर यह बात वर्त्तमान पाश्चात्य नीति के साथ विशेष रूप से लागू है। पाश्चात्य चिन्तक नैतिकतावादी (Moralist) और नैतिक दार्शनिक (Moral-philosopher) में अन्तर स्वीकार करते हैं। इन लोगों के अनुसार नीतिशास्त्र से किसी चारित्रिक निर्देश की अपेक्षा करना व्यर्थ है। चारित्रिक निर्देश देना तो उपदेशक का काम है, न कि नैतिक दार्शनिक का। नैतिक दार्शनिक तो केवल नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण करता है, न कि चारित्रिक एवं आदर्श-संबंधी निर्देशन का काम।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि भारतीय नीतिशास्त्र उपदेशात्मक (Didactic) अधिक है। भारतीय नीतिशास्त्र में अधिकांशत: ऋषियों, संतों, मुनियों और समाज-सुधारकों ने अपनी साधना एवं अनुभव के फलस्वरूप जिन लक्ष्यों को साधारण जनता के सामने समाज-कल्याण के लिए रखा या उपदेशों के

माध्यम से व्यक्त किया; उन्हीं विचारों का इसमें संकलन है। इसमें विभिन्न दृष्टान्तों और कथाओं के माध्यम से नैतिक विचारों का उपदेश किया गया है। यद्यपि इनका प्रभाव भारतीय जन-जीवन पर बड़ा गहरा है, तथापि एक क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन की इसमें कमी है। साधारणतः नैतिक प्रश्नों को प्रायः धार्मिक प्रश्नों से मिला दिया गया है। नीतिशास्त्र क्या है ? इसकी कौन-कौन सी मान्यताएँ हैं ? प्रमुख नैतिक मानदण्ड क्या हैं ? आदि अनेक नैतिक प्रश्नों को यहाँ क्रमिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक एवं तार्किक रुप में प्रस्तुत करने का प्रयास प्रायः नहीं के बराबर ही है।

इसके विपरीत पाश्चात्य नैतिक चिन्तनधारा में कुछ प्राचीन विचारों को छोड़कर शुरू से ही बड़े तार्किक रुप में विचारों को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र में शुरू से ही धर्म की समस्याओं से नैतिक प्रश्नों को अलग रुप में समझा गया है और यथासंभव वैज्ञानिक एवं तार्किक विधि द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भारतीय चिन्तनधारा में एक ही साथ जीवन के विविध प्रश्नों—धार्मिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, पारलौकिक, सामाजिक आदि—को मिश्रित कर रोचक काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु पाश्चात्य नीतिशास्त्र के साथ ऐसी बात नहीं है। यहाँ नीति-संबंधी प्रश्नों को अलग कर उनका शुद्ध तार्किक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र की समस्याओं का मुख्य प्रयोजन ऐहिक जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ हैं, जबकि भारतीय नीतिशास्त्र का अधिकांश संबंध पारमार्थिक चिन्तन से रहा है। यहाँ पारमार्थिक लाभ को ही सर्वोपरि लाभ माना गया है।

[जैसा कि गीता में लिखा है : "आत्मलाभात् परो लाभो मन्यते नाऽधिकं ततः"। (अर्थात् आत्मा के उत्थान से बढ़कर दुनिया में कोई दूसरालाभ नहीं है।)]

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं में नैतिक चिन्तन की विधि, प्रतिपाद्य विषय एवं लक्ष्य को लेकर अन्तर है। इतना अन्तर होते हुए भी दोनों के तुलनात्मक अध्ययन की वर्त्तमान युग में बड़ी अपेक्षा है। मानव-ज्ञान के क्षेत्रों में तुलनात्मक अध्ययन बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ है; क्योंकि इससे सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में बड़ी मदद मिल सकती है। अतः भारतीय नीतिशास्त्र का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए।

३

# भारतीय नीतिशास्त्र की पूर्वमान्यताएँ तथा उसके विभिन्न पक्ष

(अ) पूर्वमान्यताएँ (Basic Postulates of Indian Ethics)

(i) धार्मिक पूर्वमान्यताएँ (Religious postulates);

(ii) दार्शनिक पूर्वमान्यताएँ (Philosophical postulates)।

(ब) मनोवैज्ञानिक या वैयक्तिक पक्ष (Psychological or Subjective aspect);

(स) कर्मस्रोतों का वर्गीकरण (Classification of the Springs of actions)

(द) सामाजिक पक्ष (Social aspect):

(इ) आध्यात्मिक पक्ष (Spiritual aspect);

**"हिन्दूधर्म की तीन सारभूत बातें है—ईश्वर में, श्रुति-रूप वेदों में, कर्मवाद और जन्मान्तरवाद के सिद्धान्त में विश्वास।"**

—विवेकानन्द : विविध प्रसंग, पृ० १०७।

## पूर्वमान्यतायां

### (Basic Postulates of Indian Ethics)

भारतीय नीतिशास्त्र के दो प्रमुख भेद हैं—एक सामान्य नीतिशास्त्र, और दूसरा राजनीति-शास्त्र। सामान्य नीतिशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य-मात्र के लिए उपदेश दिए गए हैं, जिनका पालन करने से लौकिक सुखों की प्राप्ति हो सकती है। राज-नीति-शास्त्र का उपदेश केवल राजाओं के पालन करने के लिए दिया गया है।

इस अध्याय में हम केवल सामान्य नीतिशास्त्र और उसके प्रमुख भेदों का ही वर्णन प्रस्तुत करना चाहेंगे। भारतीय नीतिशास्त्र में सामान्य नीति की बड़ी विस्तृत चर्चा पाई जाती है और जीवन-संबंधी प्रायः प्रत्येक समस्या के बारे में विवेचन मिलता है; जैसे—दैव और पुरुषार्थ, सामान्य धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, स्त्रियों के धर्म, मोक्ष-साधना, आपद्धर्म, प्रायश्चित आदि। परन्तु महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यहाँ प्रमुख चार आधारों की ही चर्चा की जाएगी, जिनमें सर्वप्रथम दार्शनिक आधार या पूर्वमान्यताओं (Basic Postulates) की चर्चा इस अध्याय में की जाएगी।

प्रत्येक विज्ञान एवं शास्त्र के सुव्यवस्थित अध्ययन के लिए कुछ आधारभूत मान्यताएँ होती हैं, जिनको माने बिना वह विज्ञान या शास्त्र संभव नहीं हो सकता। इन मान्यताओं के आधार पर ही ज्ञान का सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं विधियुक्त रूप बनता है। ये मान्यताएँ स्वयंसिद्ध या अनिवार्य मानी जाती हैं। किसी भी विषय का अध्ययन तबतक वैज्ञानिक नहीं हो सकता, जबतक कि उस विषय को आरम्भ करने के लिए कुछ मान्यताओं को स्वीकार न किया जाय। आचार-विज्ञान में तो आधारभूत मान्यताओं का महत्त्व अन्य विज्ञानों की अपेक्षा और भी अधिक है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अन्य विज्ञानों में, खासकर भौतिक विज्ञानों में, किसी भी विषय का अध्ययन तटस्थ दृष्टिकोण से किया जाता है, किन्तु आचार-विज्ञान का संबंध हमारे जीवन से है और यदि जीवन के-संचालन के लिए मनुष्य के सामने कोई मान्यता नहीं हो, तो उसका जीवन निरुद्देश्य, नीरस और निष्क्रिय हो जाएगा। बिना विश्वास एवं निष्ठा के किसी भी उत्तम्-से-उत्तम आदर्श को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए जर्मन दार्शनिक काण्ट ने धार्मिक विश्वासों के अभाव में नैतिक जीवन को असंभव एवं अर्थहीन बताया था। काण्ट के अनुसार नैतिक जीवन की तीन पूर्वमान्यताएँ है :

(१) संकल्प-स्वातन्त्र्य (Freedom of will),

(२) आत्मा की अमरता में विश्वास (Immortality of self);

(३) ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास (Belief in God)।

उपर्युक्त पूर्वमान्यताओं को काण्ट ने नैतिकता की आधार-शिला माना है।

साधारणतः पाश्चात्य नीतिशास्त्र की तीन पूर्वमान्यताएँ स्वीकार की जाती हैं :

(क) व्यक्तित्व (Personality);

(ख) विवेक (Reason);

(ग) संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of will)

भारतीय नीतिशास्त्र में भी नैतिकता के लिए कुछ आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। भौतिकतावादी चार्वाक, जो आत्मा की अमरता, ईश्वर के अस्तित्व और कर्मों के परिणाम में विश्वास नहीं करता है, न तो कोई सर्वमान्य नियम बना पाता है और न जीवन के लिए कोई ऊँचा आदर्श ही निश्चित कर पाता है। ठीक यही बात आज के भौतिकतावादी नीतिज्ञों की भी है। भौतिकतावाद या भौतिक लाभ को सर्वस्व मानने का फल यही है कि आज के समाज में झूठ, धोखा, हिंसा, चोरी, विश्वासघात, बेईमानी आदि का पूर्ण प्रचार है। यही

कारण है कि भारतीय नैतिक चिन्तकों ने नैतिकता के कुल मूलभूत आधार तत्त्वों का उल्लेख किया है, जिनको मानकर चलने से व्यक्ति एवं समाज दोनों सुखी और संपन्न जीवन-यापन कर सकते हैं।

भारतीय नीतिशास्त्र में दो मूलभूत आधार-तत्त्वों का उल्लेख किया गया है—धार्मिक और दार्शनिक। यहाँ इन दोनों पूर्वमान्यताओं की क्रमशः चर्चा की जाती है।

## (१) धार्मिक पूर्वमान्यताएँ (R eligious Postulates)

भारतीय नीतिशास्त्र की कुछ प्रमुख धार्मिक पूर्वमान्यताएँ हैं, जिनको भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड़कर सबने किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। स्वामी विवेकानन्द ने चार पूर्वमान्यताओं को स्वीकार किया है—ईश्वर में, श्रुति-रूप वेदों में, कर्मवाद और जन्मान्तरवाद के सिद्धांत में विश्वास। इन चारों प्रमुख पूर्वमान्यताओं के अतिरिक्त भी कुछ हैं, जिनकी यहाँ चर्चा की जाएगी।

(१) **आत्मा में विश्वास**—चार्वाक-दर्शन को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों में स्पष्टतः यह स्वीकार किया गया है कि इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त प्रत्येक प्राणी में एक अध्यात्मिक तत्त्व पाया जाता है, जिसे जीव, आत्मा, पुरुष आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। यह आत्मा भौतिक शरीर का नियंत्रक है और भौतिक शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। वही ज्ञान, कर्म और सुख-दुःख का ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। शरीर की मृत्यु के बाद भी वह अपरिवर्तित रह जाता है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र में काण्ट भी कर्मों के फल को भोगने के लिए आत्मा की अमरता में विश्वास करता था।

(२) **कर्म-स्वातंत्र्य एवं फल में पारतंत्र्य**—भारतीय परम्परा में यह प्रचलित धारणा है कि मनुष्य कर्मों के सम्पादन में स्वतन्त्र हैं परन्तु अपने किए गए कर्मों का फल उसे स्वयं भोगना है। वैदिक काल से ही इस बात पर बल दिया गया है कि अच्छे कर्म करनेवालों की सद्‌गति होती हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है और बुरे कर्म करनेवालों को दुर्गति, नरक और मरने के बाद अनेक यातनाएँ सहनी पड़ती है। पुराणों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसकी विस्तृत चर्चा है कि किस यज्ञ के करने से क्या फल मिलता है और बुरा कर्म करनेवालों को किस प्रकार की विभिन्न नारकी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। फल में स्वतन्त्रता नहीं है, वह तो किए गए कर्मों का अवश्यम्भावी परिणाम होता है। गीता में स्पष्टतः कहा गया है कि मनुष्य को कर्म करने में ही स्वतन्त्रता है, फल में नहीं—**"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"**

पाश्चात्य नीतिशास्त्र में भी कर्म-स्वातन्त्र्य को महत्त्वपूर्ण पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

(३) **संसार-समुद्र**—विभिन्न धार्मिक एवं नैतिक ग्रन्थों में इसकी विस्तृत चर्चा है कि जीव या आत्मा अमर है। उसे बार-बार अपने कर्मों के अनुरूप जन्म-मरण का अनुभव करना पड़ता है और संसार में गोते खाने पड़ते हैं। संसार में जीव को सुख और दुःख के चक्र का अनुभव तबतक करना पड़ता है जबतक वह मुक्त नहीं हो जाता। मोक्ष ही आत्मा को संसार-समुद्र से पार करा सकता है। इसके बिना उसे चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते रहना पड़ता है।

(४) **कर्म-फल के नियम में विश्वास**—भारतीय परम्परा में कर्मवाद में अटूट श्रद्धा है। जो जैसा करता है उसे उसके अनुरूप फल मिलता है। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जिसे अपने किए कर्मों का फल न भुगतना पड़े। यहाँ पर यह प्रचलित धारणा है कि वर्त्तमान जीवन पूर्व कर्मों का फल है और इस जन्म में किए गए कर्मों के फल भावी जीवन में भुगतने पड़ेंगे। दुनिया में कोई भी ऐसी जगह नहीं जहाँ पर किए गए कर्मों का फल न भोगना पड़े। इस प्रकार यह नियम अटल माना जाता है। इसे वेदों में 'ऋत' की संज्ञा दी गई है। केवल मुक्त हो जाने पर ही निष्काम कर्मों के सम्पादन से कर्म-फल से मुक्ति मिल सकती है।

(५) **ईश्वर में विश्वास**—पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट ने भी ईश्वर के आस्त्वि में विश्वास को नैतिकता के लिए आवश्यक माना है। अगर ईश्वर को न माना जाय तो कर्म-फल का सिद्धान्त ही व्यर्थ हो जाएगा। भारतीय दार्शनिक परम्परा में ईश्वर को जीवों के स्रष्टा, पालक एवं संहारक के रूप में स्वीकार किया गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक है। ईश्वर में विश्वास एवं उसकी आराधना से मनुष्य संसार-सागर को पार कर सकता है। यहाँ तक कि कुछ विचारक मुक्ति को भी ईश्वर की कृपा पर ही संभव मानते हैं। इसके अतिरिक्त जो दार्शनिक सम्प्रदाय ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे भी गुरु को या अपने सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों--महात्मा बुद्ध, महावीर आदि—को ईश्वर ही के समान मानते हैं।

(६) **परलोक या लोकान्तर में विश्वास**—यहाँ के प्राचीन नैतिक एवं धार्मिक ग्रन्थों में इस मृत्यु-लोक के अतिरिक्त भी कई लोकों की कल्पना की गई है। ऐसा भी वर्णन मिलता है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि मनुष्य मरने के बाद पुनः इसी लोक में जन्म ले। वह अन्य लोकों में या नाना प्रकार के प्राणियों के रूप में अपने कर्मों के फल के अनुसार जन्म ले सकता है। अन्य लोकों में, जैसे स्वर्ग या

---

1. गीता, अध्याय २।४७।

नरक में, पार्थिव जीवन से सुखमय या दुःखमय जीवन हो सकता है। इन लोकों में जन्म कर्म के फल के अनुसार—होता है—अच्छे कर्म करनेवाले स्वर्गलोक और बुरे कर्म करनेवाले नरक के भागी होते हैं।

(७) **मनुष्य-योनि के अतिरिक्त योनियों की कल्पना**—यहाँ यह प्रचलित धारणा है कि वर्त्तमान शरीर पूर्व कर्मों का फल है। इसलिए पृथ्वी पर रहनेवाला मनुष्य या अन्य प्राणी, या अन्य लोकों के रहनेवाले प्राणी, सभी की अलग-अलग योनियाँ हैं। सभी अपने अच्छे या बुरे कर्मों को भोगने के लिए बिभिन्न योनियों में जन्म लेते रहते हैं। सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो शुभ या अशुभ कर्मों के द्वारा अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है और सत् कर्मों द्वारा स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। मनुष्य-योनि को कर्म-योनि भी कहा गया है; क्योंकि इसमें कर्म करने या कर्मचयन की स्वतन्त्रता है। अगर मनुष्य ने इस योनि में अपने कर्मों को नहीं सुधारा, तो फिर कब उसे यह योनि मिलेगी, कुछ नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि संत-महात्माओं ने मनुष्य-योनि को दुर्लभ कहा है।

(८) **वेदों की प्रामाणिकता**—नास्तिक दर्शनों (चार्वाक, बौद्ध, जैन) को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय चिन्तक वेदों की महत्ता एवं प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग वेदों को स्वयं भगवान् ब्रह्मा द्वारा मनुष्य को कर्त्तव्य-विधान का ज्ञान देने के लिए निर्मित मानते हैं। यह किसी मनुष्य की कृतिप्र नहीं है, बल्कि ऋषियों के द्वारा अनुभूत साक्षात् ईश्वर की वाणी है। यह भी प्रचलित धारणा है कि स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रंथ वेदों में कही गई बातों की व्याख्या-मात्र हैं।

(९) **प्राचीनता में अटूट विश्वास**—जिस प्रकार पाश्चात्य विचारकों को विकासवाद के प्रति अटूट श्रद्धा है, ठीक उसी प्रकार भारतीय परम्परा में यह अत्यन्त प्रचलित विश्वास है कि प्राचीन काल में लोग अधिक ज्ञानी, तपस्वी और चरित्रवान् हुआ करते थे। तपस्या या योग द्वारा उन्हें ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त था। यहाँ तक कि कुछ ऋषि-मुनियों को तो विश्व का हस्तामलकवत् ज्ञान ही नहीं, बल्कि उन्हें किसी वस्तु का भूत, भविष्य और वर्त्तमान, सभी कालों का ज्ञान था। मनुष्य को सन्मार्ग पर लाने एवं मनुष्यों की भलाई के लिए उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-संबधी शास्त्रों की रचना की, जिनके अध्ययन एवं मनन से मानवता का कल्याण हो सकता है। यही कारण है कि सभ्यता एवं संस्कृति के मामले में जहाँ पाश्चात्य देशों में विकासबाद का समर्थन किया जाता है यहाँ हमारे वहाँ उसे ह्रासवाद मानते हैं।

## (२) दार्शनिक पूर्वमान्यताएँ (Philosophic Postulates)

धार्मिक पूर्वमान्यताओं की ही तरह भारतीय नीतिशास्त्र की कुछ दार्शनिक पूर्वमान्यताएँ भी हैं। भारतीय परम्परा में नीतिशास्त्र का दर्शन से बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है। भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी दर्शनों (आस्तिक और नास्तिक) में नैतिक प्रश्नों को लेकर उतना मतभेद नहीं है जितना अन्य विषयों में। यद्यपि हर संमदाय में नैतिक जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुचने के विभिन्न मार्ग बतलाए गए हैं, फिर भी सभी इल बात से सहमत हैं कि मोक्ष-प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है। भारतीय नैतिक चिन्तन की निम्नलिखित पूर्वमान्यताएँ हैं,

(१) **सांसरिक जीवन दुःखमय है**—प्रायः सभी भारतीय विचारक किसी-न-किसी रूप में यह स्वीकार करते हैं कि यह सांसरिक जीवन दुःखमय है। जबतक मनुष्य जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है तबतक उसे स्थायी सुख-शान्ति नहीं मिल सकत; क्योंकि संसार में कोई भी चीज न तो चिरस्थायी है और न पूर्णतः संतोषप्रद ही। वास्तविक सुख-समृद्धि एवं चिरस्थाई आनन्द की प्राप्ति केवल इस आवागमन के चक्र से दूर होने से ही हो सकती है। बुद्ध ने इसे दुःख-निरोध का मार्ग कहा, न्याय वैशेषिक ने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की कल्पना की ओर सांख्य-योग ने भी दुःखत्रय के विनाश के लिए कैवल्य की कल्पना की। इन सभी प्रयासों का संकेत मुक्ति की प्राप्ति से है।

(२) **सांसरिक भोग-विलास परमानन्द के साधक नहीं, बाधक हैं**—यहाँ के नीतिशास्त्रज्ञों का विश्वास था कि सांसरिक जीवन में जो हमें सुख मिहता है, वह इन्द्रियानुभव पर आधारित होने के कारण क्षणिक होता है। इस तरह से प्राप्त सुख भी अंत में दुःख में ही परिणत हो जाता है। इसलिए ऐसा बार-बार परामर्श दिया गया है कि इन सुखों की प्राप्ति के पीछे हमें पागल नहीं होना चाहिए। सच्चे सुख की प्राप्ति विषय-भोगों और वासनाओं का परित्याग कर आत्म-स्वरूप में स्थित होने या मन के विकारों का नियंत्रण कर स्थिर चित्त होने में ही है। इसे ही गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है।

(३) **मोक्ष-धारणा एवं मोक्ष-साधनों की अनिवार्यता पर बल**—प्रायः सभी विचारकों ने सांसरिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति एवं पूर्ण शान्ति की प्राप्ति के लिए मुक्ति की कामना पर बल दिया है। इसके विभिन्न साधनों की भी चर्चा की गई है; जैसे—भक्ति, धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास! मन के विकारों—राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मात्सर्य आदि पर विजय प्राप्त करना; सद्गुणों अर्थात् सत्यः अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, संतोस आदि का अभ्यास; निष्काम कर्म-

सम्पादन इत्यादि। इन सभी साधनों का एक ही लक्ष्य है कि कैसे दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो।

कुछ विचारक इस अवस्था को इसी जीवन में राग-द्वेषों पर विजय होने या प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर संभव मानते हैं, तो कुछ मरणोपरान्त इसकी प्राप्ति को मानते हैं। जो व्यक्ति राग-द्वेष पर विजय कर निष्काम कर्म सम्पादन करते हुए लोक-कल्याण में रत रहता है, ऐसे व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति देह का अन्त होने पर जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पा जाता है और विदेहमुक्त कहलाता है। परन्तु न्याय वैशेषिक आदि दर्शन विदेहमुक्ति में ही विश्वास करते हैं।

(४) **मानव के सर्वांगीण विकास एवं मूल्यों में समन्वय**—प्रायः प्रत्येक भारतीय नैतिक चिन्तक ने इस बात पर बल दिया है कि जीवन का उद्देश्य सर्वांगीण विकास ही होना चाहिए। इसीलिए चारो पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को जीवन में चरितार्थ करने पर बल दिया गया है। परन्तु कुछ विचारक आध्यात्मिक जीवन को ही सर्वोपरि मानते हुए संन्यास या वैराग्य और मोक्ष की प्राप्ति का ही उपदेश देते हैं। लेकिन अधिकांश विचारक वृत्ति और निवृत्ति—दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति पर बल देते हैं। वास्तव में दोनों में समन्वय स्थापित करते हुए जीवन के चरम लक्ष्यों को प्राप्त करना ही भारतीय नीतिशास्त्र का अभीष्ट है।

(५) **संतों, महात्माओं, योगियों या सिद्धों की आन्तरिक अनुभूति में विश्वास**—भारतीय नैतिक चिन्तनधारा पर संतों, महात्माओं, योगियों और सिद्धों के उपदेशों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। प्रमाण-विज्ञान में भी आप्तवचन को ज्ञान की प्राप्ति का एक साधन स्वीकार किया गया है। ऐसे व्यक्तियों को आध्यात्मिक साधन द्वारा आत्मानुभव या ब्रह्मानुभव का साक्षात् ज्ञान रहता है। ये लोग ऐसे अनुभव को स्थायी प्रकाश, आनन्द, शान्ति और तृप्ति का अनुभव बताते हैं। ऐसे अनुभव को आध्यात्मिक मार्ग में सहायक माना जाता है। विविध ग्रंथों में इसकी विस्तृत चर्चा है कि जिस साधन से विचार, ध्यान, भक्ति, हरिस्मरण या योग द्वारा आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हो सके, वही करना मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

(६) **गुरु का महत्व**—हमारे यहाँ गुरु की बड़ी महिमा बताई गई है। यहाँ तक कि महत्व की दृष्टि से गुरु भगवान से भी बड़ा माना गया है; क्योंकि गुरु ही ज्ञान देता है। आध्यात्मिकता या नीति के क्षेत्र में उसका और अधिक

महत्त्व हो जाता है; क्योंकि उसे ब्रह्मानुभव या आत्मानुभव का साक्षात ज्ञान होता है और वह यह अनुभव दूसरों को भी बतलाता है। भारत के प्रायः सभी नैतिक विचारकों ने ऐसे अनुभव की प्राप्ति के बाद जन-कल्याण के लिए दूसरों को उपदेश दिया है। महावीर बुद्ध और शंकर के जीवन का तो यह व्रत था कि सभी दुःखी मानवों को नैतिकता एवं मोक्ष का ज्ञान कराएँ। और, यही कारण है कि ये विचारक स्वयं मुक्त होने के बाद धर्म-प्रचार, संघ-स्थापना एवं अनेक प्रकार के जन-कल्याण सम्बन्धी कार्यों में लगे रहे।

(७) **ज्ञान की महत्ता**—सभी भारतीय दार्शनिक सिद्धांतो में ज्ञान को, विशेषकर आत्मज्ञान को, जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने यहाँ तक कहा था कि ज्ञान के बिना मुक्ति संभव ही नहीं है—"**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।**" उनके अनुसार सभी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, **ब्रह्मसूत्र** और गीता) का प्रयोजन ज्ञान-मार्ग की ही शिक्षा देना है। उपनिषदों में भी ऋषियों ने अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाने के लिए प्रार्थना की है—"**तमसो मा ज्योतिर्गमय।**" इसे मोक्ष का साधन भी स्वीकार किया जाता है तथा इसे भक्ति, अन्तःकरण की स्थिरता, शुभ कार्यों के सम्पादन एवं पवित्रता के लिए सहायक स्वीकार किया जाता है। परन्तु इतना होते हुए भी भक्ति और कर्म-मार्ग की अवहेलना नही की गई है। सबके समन्वय पर ही भारतीय नीतिशास्त्र में विशेष बल दिया गया है।

उपर्युक्त प्रमुख दार्शनिक पूर्वमान्यताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य पूर्वमान्यताओं की भी चर्चा पाई जाती है, जिनकी किसी-न-किसी रूप में धार्मिक पूर्वमान्यताओं के क्रम में हम चर्चा कर चुके हैं; जैसे—मानव केवल भौतिक शरीर-मात्र नहीं है; कर्मवाद का सिद्धांत; लोक-लोकान्तर में विश्वास; ईश्वर की महत्ता इत्यादि। इसलिए पुनः इनका वर्णन प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

उपर्युक्त इन धार्मिक एवं दार्शनिक पूर्वमान्यताओं को सभी चिन्तकों ने किसी-न-किसी रूप में आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य स्वीकार किया है।

## (ब) मनोवैज्ञानिक या वैयक्तिक पक्ष
## (Tha Psychological or Subjective basis of Ethics)

(क) प्रवृति-विश्लेषण;
(ख) अन्तःकरण या कर्त्तव्य-विश्लेषण;
(ग) कर्मस्रोतों का वर्गीकरण।

भारतीय नीतिशास्त्र कुछ मनोवैज्ञानिक तत्त्वों, खासकर अन्तःकरण की पवित्रता या चित्त-शुद्धि पर आधारित है। सामाजिक नैतिकता को वैयक्तिक नैतिकता का तार्किक निष्कर्ष कहा जा सकता है। भारतीय नीतिशास्त्र का यह दावा रहा है कि व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य-निर्धारण करने एवं उसके परिपालन की पूरी स्वतन्त्रता है—"**येनेष्टं तेन गम्यंताम्।**" पार्थसारथि मिश्र ने तो एक स्थल पर यहाँ तक लिखा है कि मनुष्य को केवल अपने भावी सन्मार्ग के चयन की ही स्वतन्त्रता नहीं है, बल्कि उसे इस बात की भी स्वतन्त्रता है कि वह अपने सर्वोत्तम लक्ष्य मोक्ष (दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं आवागमन से मुक्ति) या स्वर्ग (सुखों का धाम) स्वीकार करे। पाश्चात्य एवं भारतीय नीतिशास्त्रज्ञ, दोनों ही इस मत से सहमत हैं कि व्यक्ति में नैतिकता इच्छा-स्वातंन्त्र्य (Freedom of will) से आती है, न कि किसी बाहरी दबाव या विवशता से। इतना ही नहीं, बाह्य नैतिकता एवं सत् आचरण के लिए वैयक्तिक उत्थान, अन्तःकरण की पवित्रता या चित्त-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक तत्त्व हैं। इसीलिए प्रस्तुत अध्याय में, हम उन विशेष मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहेंगे, जो भारतीय नीति-शास्त्र के मौलिक विवेच्य विषय रहे हैं। सुविधा के लिए वर्त्तमान विश्लेषण को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) प्रवृति-विश्लेषण (Analysis of volition);
(क) विवेक-विश्लेषण (Anlysis of conscience or consiousness of duty);
(ग) कर्मस्रोतों का विभाजन (Classification of the springs of action);
(च) सद्‌गुणों का विभाजन (Classification of virtues)।

### (क) प्रवृति विश्लेषण (Analysis of volition)।

भारतीय नीतिशास्त्र में 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। कभी इसका प्रयोग निवृत्ति के विपरीत अर्थात् विषयों के प्रति इन्द्रियों की आसक्ति के अर्थ में, तो कभी मोक्ष-संबंधी एक मार्ग के रूप में (प्रवृति-मार्ग), तो कभी इच्छा अथवा संकल्प से संचालित मानवीय क्रियाओं के द्योतक के रूप में

किया जाता है। इन विभिन्न अर्थों में दो अर्थ—इच्छा-संकल्प द्वारा संचालित कर्म एवं मोक्ष-संबंधी एक मार्ग विशेष महत्वपूर्ण हैं। मोक्ष-संबंधी विभिन्न मार्गों—निवृत्ति-मार्ग, प्रवृत्ति-मार्ग, कर्ममार्ग, विवेक, शास्त्र-संयम आदि में से प्रवृत्ति-मार्ग का विस्तृत विवेचन मीमांसकों ने किया है।

मनु के अनुसार ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति की कामना से जो यज्ञादि तथा तत्संबंधी कर्म किए जाते हैं, उनको प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है। परन्तु प्रस्तुत अध्याय में हम प्रवृत्ति का विश्लेषण मोक्ष की प्राप्ति के एक मार्ग के रूप में नहीं करेंगे।। यहाँ पर हम 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग 'इच्छा-संकल्पजन्य क्रियाओं' के द्योतक के रूप में ही करेंगे।

जिस प्रकार पाश्चात्य नीतिशास्त्र में सारे कर्मों को तीन भागों में बाँटा जाता है—नैतिक (Moral), अनैतिक (Immoral) और नीतिशून्य (Amoral)—ठीक उसी प्रकार भारतीय नीतिशास्त्र में भी विभिन्न नैतिक तथा नीतिशून्य (Moral and Non-moral) कार्यों के बीच भेद किया जाता है। भारतीय नीति-शास्त्र के अनुसार सभी प्राणियों के सारे कर्म अच्छे या बुरे नहीं हो सकते। केवल वही कर्म नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जो विवेक एवं इच्छा-संकल्प से प्रेरित होकर किए जाते हैं। इस दृष्टिकोण से पशु-पक्षियों, पागल, अबोध बालकों आदि के कर्मों का नैतिक मूल्यांकन संभव नहीं है, क्योंकि इनमें विवेक एवं इच्छा-संकल्प का पूर्णत: अभाव रहता है। केवल मनुष्य द्वारा किए जानेवाले कर्म ही नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। परन्तु मनुष्य के भी सारे कर्मों का नैतिक मूल्यांकन संभव नहीं हैं; क्योंकि उनके सारे कर्म विवेक द्वारा प्रचलित नहीं होते। अत: मनुष्य की भी मूल प्रवृत्यात्मक एवं सहज क्रियाएँ (Instinctive and reflex actions), जो विवेक एवं इच्छा-संकल्प द्वारा प्रेरित नहीं होती है, नीतिशून्य (Non moral) कही जाती हैं। ऐसे कर्मों को नैतिक मूल्यांकन द्वारा अच्छा या बुरा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय में विभिन्न भारतीय नीति शास्त्रज्ञों द्वारा प्रतिपादित इच्छा-संकल्पजन्य (प्रवृत्ति) क्रियाओं का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। अंत में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इच्छा-संकल्पजन्य क्रियाएँ या इच्छा-स्वातंत्र्य की चेतना उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्तव्य का मनोवैज्ञानिक आधार हैं।

इच्छा-स्वातन्त्र्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने में भारतीय नीतिशास्त्र में न्यायवैशेषिक-सिद्धान्त की विवेचना का विशेष रूप से महत्त्व है। इस विषय की व्याख्या केवल प्रशस्तपाद के वैशेषिक-सूत्र पर लिखी गई टीका तक ही सीमित नहीं की जा सकती। विश्वनाथ एवं नव्य-नैयायिकों ने भी इसकी व्याख्या दी है। प्रशस्तपाद की व्याख्या केवल ऐच्छिक एवं अनैच्छिक कार्यों के

मौलिक भेद तक ही सीमित है। परन्तु नव्य-नैयायिकों का विश्लेषण प्रशस्तपाद से भी आगे तक जाता है। ये लोग केवल प्रवृत्तिजनक क्रियाओं तथा सहज क्रियाओं एवं जन्म-जात क्रियाओं की व्याख्या तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि उपयोगितावादी एवं अनुपयोगितावादी दृष्टिकोण से प्रेरणा के सूक्ष्म विश्लेषण में भी सचेष्ट हैं

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक-सूत्र पर लिखी हुई गुणग्रन्थ नामक टीका में मनुष्य के सारे कर्मों को स्थूल दृष्टि से दो भागों में बाँटा है :

(i) जीवनपूर्वक प्रयत्न,

(ii) इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्न

प्रशस्तपाद के अनुसार जीवनपूर्वक प्रयत्न या कर्म प्राणियों की अनैच्छिक, स्वतःसंचालित शारीरिक क्रियाएँ नीतिशून्य क्रियाएँ हैं। कारण कि ये मनुष्य की इच्छा अथवा संकल्प के बिना ही स्वतः संचालित होती रहती हैं। जबतक मनुष्य जीवित रहता है तबतक ये क्रियाएँ स्वयं ही बिना किसी चेतन प्रयत्न के हुआ करती हैं। अतः इन्हें पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ की कोटियों में नहीं रखा जा सकता क्योंकि इनमें संकल्प का सर्वथा अभाव रहता है।

इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्न या कर्म ही ऐच्छिक क्रियाएँ हैं। ये संकल्प से उत्पन्न होती हैं। इन ऐच्छिक क्रियाओं को मनुष्य एक निश्चित उद्देश्य, 'हित-प्राप्ति' 'अहित-परिहार' तथा 'शरीर-धारण' को ध्यान में रखकर करता है। इष्ट-प्राप्ति को ध्यान में रखकर जो क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें इच्छापूर्वक' तथा अनिष्ट से बचने के लिए जो क्रियाएँ की जाती है, उन्हें 'द्वेषपूर्वक' कर्म कहा जाता है। इन्हीं दोनों तरह के कर्मों को मिलाकर प्रशस्तपाद ने 'इच्छा-द्वेषपूर्वक' प्रयत्न' कहा है।

भारतीय नीतिशास्त्र में उपर्युक्त इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्न या कर्मों को ही दार्शनिक भाषा में 'प्रवृत्ति' कहा जाता है। पाश्चात्य नीतिशास्त्र में इन्हें नैतिक क्रियाओं की संज्ञा दी गई है। चूँकि इन कार्यों के करने में संकल्प अथवा इच्छा का हाथ रहता है, इसलिए ऐसी क्रियाएँ अपने-आप नहीं होतीं। इनके करने के पूर्व उपयोगिता को भी ध्यान में रखना पड़ता है। इन्हीं कारणों से ऐसी क्रियाओं को भारतीय नीतिशास्त्र में 'नैतिक कार्य (moral action) 'की संज्ञा दी जाती हैं।

प्रवृत्ति या इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्न के स्वरूप के विश्लेषण के संबंध में भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों में बड़ा मतभेद है। सुविधा के लिए इस अध्याय में विश्वनाथ, प्रभाकर, भट्टमीमांसक, शांकर वेदान्त आदि के विचारों की अति संक्षिप्त चर्चा के साथ नैयायिकों के विचारों का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रभाकर ने **सिद्धांत-मुक्तावली** में प्रवृत्ति का बड़ा विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कार्यता-ज्ञान या कुछ करने की चेतना, साथ-ही-साथ चिकीर्षा या उसके प्रति लालसा, जो कि उसकी सहायक शर्त है, प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति शारीरिक चेष्टा को उत्पन्न करती है, जिससे कि विभिन्न क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। विश्वनाथ यह स्पष्ट करते हैं कि कार्यता-ज्ञान का मतलब कुछ करने की चेतना-मात्र नहीं है, बल्कि स्वविशेष या आत्म केन्द्रित कुछ कार्यों के करने की चेतना है। उनके अनुसार ऐच्छिक क्रिया में निम्नलिखित उपादान (तत्त्व) अनिवार्य रूप से निहित रहते हैं :

(१) कार्यता-ज्ञान—कुछ करना है, इसकी चेतना;

(२) चिकीर्षा—यह किया जा सकता है, इसकी चेतना, जिसे विश्वनाथ ने कृतसाध्यता-ज्ञान भी कहा है

(३) प्रवृत्ति—कार्य करने का संकल्प;

(४) चेष्टा—प्राणियों के शरीर में कार्यवाही उत्तेजना।

(५) क्रिया—वास्तविक रूप से कार्य-सम्पादन।

न्यायदर्शन के नीतिशास्त्र में प्रवृत्ति के विश्लेषण की बड़ी विस्तृत चर्चा है। न्याय के विचार का समर्थन भट्ट-मीमांसा एवं शांकर वेदांत से भी होता है। यहां पर ध्यान देने योग्य बात है कि अन्य नियमों की अपेक्षा न्याय की विशिष्टता यह है कि ये विचारक केवल चिकीर्षा या प्रवृत्ति के भावात्मक पक्ष (अर्थात् अच्छे कर्मों के करने की लालसा) का ही विश्लेषण नहीं करते, बल्कि इसके निषेधात्मक पक्ष द्वेष, अर्थात् बुरे कर्मों के प्रति विकर्षण, का भी विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। नैयायिकों के अनुसार चिकीर्षा के निम्नलिखित सोपान हैं।

(१) कृतसाध्यता-ज्ञान—किसी वस्तु की चेतना कि "यह मुझसे किए जाने योग्य है।"

(२) इष्टसाध्यता-ज्ञान—इसका ज्ञान कि "यह कार्य मेरा इष्ट या लक्ष्य है तथा मेरे शुभ की प्राप्ति में सहायक है।"

(३) बलवदनिष्टानुबन्धित्व-ज्ञान—इसकी चेतना कि "मेरे शुभ की प्राप्ति में कोई बड़ा अनिष्ट नहीं है।"

इच्छा-द्वेषपूर्वक प्रयत्नों के निषेधात्मक पक्ष अथवा द्वेष के स्वरूप का का विश्लेषण करते हुए विश्वनाथ लिखते हैं कि द्वेष केवल एक सहायक शुभ की चेतना का अभाव-मात्र है **बलवदिष्टसाधनता ज्ञानाभाव**), किन्तु दूसरे विचारकों के अनुसार केवल सहायक चेतना का अभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अबोधगम्य है। इन लोगों के अनुसार द्वेष शुभ के अभाव की एक भावात्मक चेतना है, न कि मात्र शुभ की चेतना का अभाव। इस प्रसंग में इन विद्वानों ने प्रतिबन्धक या

द्वेष के अवरोधक (Deterrent) की भी चर्चा की है; जिसका विस्तृत वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

अंत में प्रवृत्ति के समुचित विश्लेषण के लिए विश्वनाथ के विचारों का एक संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। उनके अनुसार इच्छा-द्वेषपूर्वक क्रियाओं या ऐच्छिक क्रियाओं में निम्नांकित मानसिक तत्त्व निहित रहते हैं :

(१) चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा।
(२) कृतसाध्यता-ज्ञान—यह किया जा सकता है इसकी चेतना।
(३) इष्टसाध्यता-ज्ञान—यह कार्य मेरे शुभ या लक्ष्य में सहायक है, इसका भान। इसको बलवदिष्टानुबन्धित्व ज्ञानाभाव भी कहा जाता है।
(४) उपादान-प्रत्यक्ष—अनुकूल साधनों का ज्ञान।

उपर्युक्त सभी तत्त्व किसी भी ऐच्छिक कार्य के लिए आवश्यक हैं और किसी एक की अनुपस्थिति में ऐच्छिक क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। इन सभी मानसिक तत्त्वों की व्याख्या निम्नांकित रूप में की जा सकती है :

(१) **चिकीर्षा**—जबतक कर्त्ता में कुछ करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न नहीं होगी तबतक वह कार्य करने के लिए साधनों की खोज में नहीं लगेगा। कार्य करने की इसी प्रबल इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं। परन्तु यह प्रबल इच्छा कई अन्य साधनों पर निर्भर करती है। जैसे—उस कार्य की अच्छाई की चेतना, कार्य-सम्पादन-शक्ति का भान इत्यादि। इन तत्त्वों के निहित रहने पर ही व्यक्ति में कुछ करने की प्रेरणा जगेगी। यह प्रचलित उक्ति भी है कि आवश्यकता 'आविष्कार की जननी है।' बिना प्रेरणा के हममें कार्य के सम्पादन की ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(२) **कृतसाध्यता-ज्ञान**—केवल प्रेरणा से ही कार्य-सम्पादन नहीं हो सकता। जब हमें किसी तरह यह मालूम हो जाता है कि अमुक कार्य करने से हमारी भलाई होगी तब हम यह सोचने लगते हैं कि उस कार्य के करने की शक्ति मुझमे है या नहीं। कार्य करने की शक्ति के पूर्वाभास को कृतसाध्यता-ज्ञान कहते हैं। सम्भवतः हम उसी कार्य को करने का प्रण करते हैं; जिसके करने की योग्यता हममें रहती है। जिसे करने की योग्यता हममें नही रहती, उसे करने को हम सोचते ही नही। एक लंगड़ा व्यक्ति दौड़ में भाग लेने की बात नहीं सोचता।

(३) **इष्टसाध्यता-ज्ञान**—यह अत्यन्त स्वाभाविक बात है कि हम उन्हीं कार्यों को करना चाहते हैं, जिसमें हमारी भलाई निहित रहती है। साथ-ही-साथ इससे कोई बुराई होगी, इस ज्ञान का अभाव भी रहता है। अतः ऐसी अवस्था

जिसमें हमें किसी कार्य के शुभ परिणाम का ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होनेवाली बुराई के अभाव का ज्ञान हो तो उसे इष्टसाध्यता-ज्ञान कहते हैं। यहाँ पर यह संदेह किया जा सकता है कि जब मनुष्य उसे उसी कार्य के करने में प्रवृत होता है, जिससे उत्पन्न भलाई का पूर्वाभास उसे रहता है तथा अनिष्ट साधनता के ज्ञान का अभाव रहता है तो जानते हुए भी मनुष्य क्यों गलत कार्य कर बैठता है? उदाहरणार्थ, यह जानते हुए भी कि आत्महत्या अनिष्टसाधक है, मनुष्य क्यों आत्महत्या कर बैठता है? जानते हुए भी मनुष्य कभी-कभी अपना अनिष्ट क्यों कर बैठता है? इसके उत्तर में विश्वनाथ का कहना है कि यद्यपि ऐसी परिस्थितियों में करनेवाले को अपने इष्ट या लक्ष्य का ज्ञान अवश्य रहता है, फिर भी वह सोच-कर कार्य कर बैठता है कि आत्महत्या करने से संभवतः उसके दुःखों की निवृत्ति हो जाय। यह भी संभव है कि वह आवेश में आकर अपनी बुद्धि का संतुलन खोकर वैसा कर बैठता हो। किसी भी स्थिति में ऐच्छिक क्रियाओं में मनुष्य को अपने इष्ट (अभीप्सित लक्ष्य) का ज्ञान अवश्य रहता है, चाहे वह सत्य हो या भ्रांत।

**(४) उपादान प्रत्यक्ष**—उपर्युक्त इन तथ्यों, अर्थात् करने की प्रबल इच्छा, कार्य-सम्पादन-शक्ति का ज्ञान और लक्ष्य का ज्ञान, के बाद यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति कार्य-सम्पादन के लिए किन साधनों को अपनाए। वह उन साधनों की खोज में लग जाता है, जिन साधनों से उस कर्त्ता के इष्ट-साधक कार्य की सिद्धि होती है, उन्हें उपादान कहते हैं और उन सारी वस्तुओं के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। अतएव संक्षेप में, इष्ट-साधक कार्य की सिद्धि के निमित्त अनुकूल साधनों के ज्ञान को उपादान-प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रवृत्तिजनक क्रियाओं के उपर्युक्त विश्लेषण को प्रायः सभी भारतीय नीतिशास्त्रज्ञ कुछ साधारण हेर-फेर के साथ स्वीकार करते हैं। प्रभाकर मीमांसक का मत भी ऐसा ही है। फिर भी थोडा-सा मतभेद है। न्याय के अनुसार शुभ की चेतना तथा उसकी अवरोधी निषेधात्मक उलझनें सभी प्रवृत्तिजनक क्रियाओं में आवश्यक रूप से रहती हैं। परन्तु प्रभाकर के अनुसार उपर्युक्त तत्त्वों का रहना आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार केवल काम्य कर्म (वैसे कर्म जो व्यवहारिक लाभ की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं) करने में ही हमें उनकी पूर्व-चेतना रहती है। नित्यनैमित्तिक कर्मों में हमें उनकी पूर्व-चेतना नहीं रहती है।

नैयायिक और प्रभाकर में उपर्युक्त चार मानसिक तत्त्वों के क्रम अर्थात् चिकीर्षा और कृतसाध्यता-ज्ञान के परस्पर संबंध के प्रश्न को लेकर भी कुछ मतभेद है। प्रभाकर के मत में इन दोनों के बीच का संबंध स्थापक और स्थापित का या कार्य-कारण का है। 'कुछ किया जा सकता है, इसकी इच्छा के कारण 'यह हो

सकता है' इसकी चेतना, कार्यता-ज्ञान को उत्पन्न करती है। परन्तु नैयायिक इस तरह का कार्य-कारण-संबंध स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार 'कार्य' की चेतना और यह 'यह हो सकता है' इन दोनों के बीच का सम्बन्ध केवल वस्तु की एक-रूपता का संबंध है। दूसरे शब्दों में चिकीर्षा और कृतसाध्यता-ज्ञान एक-दूसरे को उत्पन्न नहीं करते हैं, बल्कि एक ही मानसिक क्रिया के दो पक्ष हैं।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि नैयायिकों के अनुसार किसी व्यक्ति के संदर्भ को छोड़कर कोई इष्ट या प्राप्य वस्तु नहीं है। व्यक्ति का संकल्प ही उसके आदर्श को निर्धारित करता है। इस स्थल पर नैयायिक चार्वाक की अपेक्षा प्रभाकर के मत के अधिक समीप है। जहाँ चार्वाक सुखों के प्रति आकर्षण और दुःखों से विकर्षण के बीच संबंध को यान्त्रिक (Mechanical) मानते हैं, वहाँ नैयायिक वैयक्तिक इच्छा-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते हैं।

**(ख) अंतःकरण या कर्त्तव्य-विश्लेषण**

**(The analysis of Conscience or Cosciousness of duty)**

अंतःकरण या कर्त्तव्य-विश्लेण हिन्दू-नीतिशास्त्र का दूसरा मनोवैज्ञानिक आधार है। इस प्रसंग में विभिन्न कर्मकाण्डों का उल्लेख पाया जाता है, जिनका विस्तृत वर्णन वैदिक कर्मकाण्डों का विवेच्य विषय रहा है। भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार नैतिक नियम मुख्यतः धार्मिक अनुज्ञप्तियाँ हैं। इसलिए जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विश्लेषण की चर्चा की जाती है, तब वहाँ उन शास्त्रविहित कर्त्तव्यों का संकेत रहता है, जिनकी चर्चा वेदों, ब्रह्मण-ग्रंथों एवं धर्मसूत्रों में पाई जाती है। प्रस्तुत अध्याय में कर्त्तव्य-विवेक के विश्लेषण से मेरा तात्पर्य है उन कर्मकाण्डों की चर्चा प्रस्तुत करना, जो हिन्दू-नीति-ग्रंथों की मान्य धार्मिक विधियाँ हैं।

कर्त्तव्य-विवेक या कर्त्तव्य-चेतना से यहाँ तात्पर्य केवल किए जानेवाले कर्म (जो नैतिक दृष्टि से अनिवार्य कर्त्तव्य हैं) की चेतना-मात्र से ही नहीं है, बल्कि धर्म या पुण्य, जो कि विधिवत् कर्त्तव्य के पालन करने से प्राप्त होता है, उसके भी है। जिस कर्म-सम्पादन से धर्म या पुण्य की प्राप्ति न हो वह कर्त्तव्य नहीं है। इसलिए कर्त्तव्य-निर्धारण के पहले धर्म का ज्ञान रहना अनिवार्य है। यहाँ हम पहले हिन्दू-नीतिशास्त्र के अनुसार कर्म या नैतिक कर्त्तव्य से संबंधित धर्म की चर्चा प्रस्तुत करना चाहेंगे, जो विवेक-विश्लेषण के लिए प्राथमिक आवश्यकता है।

भारतीय नीतिशास्त्र में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। धर्म का सबसे प्रचलित प्रयोग 'मजहब' के अर्थ में होता है, जैसे हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि। दूसरा प्रयोग है वैसे कर्मों के अर्थ में जिनसे मनुष्य इस लोक और परलोक में कल्याण प्राप्त कर सके। तीसरा

प्रयोग है किसी व्यक्ति, जाति या वर्ण द्वारा विशेष परिस्थिति में पालन किए जाने वाले कर्त्तव्य के रूप में, जिसे गीता में स्वधर्म की संज्ञा दी गई है। **चौथा** प्रयोग धर्म का व्यवसाय या वृत्ति के अर्थ में है, जिसे मनु ने साधारण और वर्णाश्रम-धर्म कहा है। **पाँचवा** प्रयोग किसी वस्तु में सदा रहने वाले साधारण या नैसर्गिक स्वभाव के अर्थ में है, जैसे अग्नि का धर्म है जलाना, वायु का धर्म है शीतल करना चुम्बक का धर्म है, लोहे को आकर्षित करना आदि। छठा प्रयोग कभी-कभी आधार के रूप में ही होता है—ब्रह्मचारी के धर्म, गृहस्थ के धर्म, संन्यासियों के धर्म आदि। **सातवाँ** आपत्तिकाल में किए जाने वाले कर्म, जिन्हें आपद् धर्म की संज्ञा दी जाती है। **आठवाँ** प्रयोग विधि के अर्थ में भी किया जाता है; जैसे--विभिन्न धर्मशास्त्रों और धर्म सूत्रों में बताए गए रहन-सहन और व्यवहार के नियम।

प्राचीन भारतीय दर्शनों में 'धर्म' शब्द के विभिन्न प्रयोगों का बड़ा सुन्दर एवं संक्षिप्त वर्णन **'सिद्धान्त चंद्रिका'** में इस तरह किया गया है :

> **"सांख्यास्तु मनसो वृत्तिविशेषं धर्ममाहुः**
> **शाक्यास्तु चित्तस्य शुभां वासनां,**
> **अर्हतस्तु कार्यारम्भकान् सूक्ष्मान् मूर्तिमतः**
> **पुद्गलान् धर्ममाहुः**
> **वैशेषिकास्तु आत्मनो विशेष गुणान्,**
> **मीमांसकास्तु एक देशितः अपूर्वमेव धर्ममाहुः,**
> **यागादि रेव धर्मशब्द वाच्यइति भट्टः ॥"**

सांख्य के अनुसार धार्मिकता और अधार्मिकता पुरुष के पारमार्थिक स्वरूप को स्पर्श नहीं करतीं। इनका संबंध मस्तिष्क से होता है, जो प्रकृति में व्यावहारिक अवस्था के परिणाम या परिवर्तन का प्रारूप है। प्रकृति का पुरुष से संसर्ग होने पर ही अनेक व्यावहारिक अंग प्रत्यंगों का प्रादुर्भाव होता है (मस्तिष्क,ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय इत्यादि)। इसी व्यावहारिक अवस्था के अन्तर्गत मन और संसार के प्रसंग में ही उचित-अनुचित, नैतिकता और अनैतिकता आदि प्रश्नों का कोई महत्त्व है। धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता आदि का सांख्य के अनुसार केवल व्यावहारिक महत्त्व है, और मन प्रकृति का एक अंग है न कि पारमार्थिक आत्मा या पुरुष का गुण। धर्म एवं नैतिकता पुरुष को उसी तरह स्पर्श नहीं करते, जैसे स्फटिक पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार धर्म आत्मा का एक विशेष गुण है। वैशेषिक दर्शन जीवन के दोनों उद्देश्यों---अभ्युदय एवं निःश्रेयस को स्वीकार करता है। उसके अनुसार अभ्युदय से तात्पर्य सांसारिक सुख की प्राप्ति से तथा निःश्रेयस का

प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति से है। इन दोनों आदर्शों की प्राप्ति जिस साधन से हो, उसे 'धर्म' कहा गया है। वेद द्वारा विहित कर्म-सम्पादन से मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है और भौतिक पदार्थों के वास्तविक एवं निवृत्तिजनक कर्मों के पालन से निःश्रेयस प्राप्त होता है। सांख्य और न्याय-वैशेषिक दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि धर्म एवं नैतिकता वैयक्तिक है तथा केवल व्यावहारिक जीवन से संबंधित है। परन्तु न्याय-वैशेषिक धार्मिकता एवं नैतिकता को वैयक्तिक इसलिए मानता है कि ये जीवात्मा (आत्मा की व्यावहारिक स्थिति) के गुण हैं। दूसरी तरफ सांख्य इनको वैयक्तिक इसलिए मानता है कि ये उस मन के व्यापार हैं, जो प्रकृति का परिणाम है और पुरुष या तात्विक आत्मा से भिन्न है।

बौद्ध मतानुयायियों के अनुसार सदाचार (Righteousness) वैयक्तिक वस्तु है। यह व्यक्ति के मानस-प्रवाह, चित्त की वासना या संस्कार से उत्पन्न होता है। इसलिए धर्म एवं सदाचार का केवल व्यावहारिक महत्व है, पारमार्थिक नहीं।

मीमांसकों के अनुसार धर्म वस्तुगत और बाह्य है। इन लोगों के अनुसार धर्म या सदाचार स्वभावतः शुभ के स्वरूप का है, जो विधि-वाक्यों द्वारा या धर्मग्रन्थों द्वारा समर्थित है। **सुबोधिनी** में अर्थ की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जो सुखों से अधिक दुःखों को उत्पन्न नहीं करता वह अर्थ या शुभ है और जो सुखों से अधिक दुःख को उत्पन्न करता है, वह अशुभ है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार धर्म एक वैयक्तिक पदार्थ नहीं है और इसलिए आत्मा का धर्म नहीं है। इसे क्रिया या धर्मग्रन्थों द्वारा विहित कर्मों से भी संबंधित नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह एक निरपेक्ष पदार्थ है, जो किसी भी वैयक्तिक अपेक्षा या अवस्था से स्वतंत्र है। धर्मग्रन्थों द्वारा विहित कर्म बाह्य क्रियाएँ हैं। वह नियोग (अपवाद-रहित आज्ञा) के द्वारा व्यक्त और प्रेरणा द्वारा अभिव्यक्त होता है। वह एक अव्यावहारिक तथा स्वभावतः अतीन्द्रिय तथा शास्त्रों द्वारा अभिहित अपवाद-रहित नैतिक आज्ञा है। शास्त्रीय आज्ञाएँ ही अर्थ को उत्पन्न करती हैं, जिससे अपूर्व परिणामों द्वारा धर्म प्रादुर्भूत होता है। शास्त्रीय आज्ञाओं के अन्तर्गत नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य-दोनों ही प्रकार के कर्म आते हैं। इन कर्मों में अनर्थ या दुःख निहित नहीं रहता और इसी से इन्हें धर्म कहा जाता है। धार्मिक 'शुभ' 'अपूर्व' या अतीन्द्रिय है।

भाट्टमीमांसकों के अनुसार यज्ञादि काम्य कर्म ही धर्म या नैतिक शुभ को उत्पन्न करते हैं। भाट्टमीमांसक प्रभाकर के इस विचार का खंडन करते हैं कि धर्म एक वस्तुगत पदार्थ है। इन लोगों के अनुसार धर्म एक अलौकिक पदार्थ (Non empirical Category) है, जो शुभ की प्राप्ति में सहायक होता है।

यज्ञादि कर्म शुभ की प्राप्ति में सहायक होते हैं। इसीलिए इन्हें धर्म की संज्ञा दी जाती है। जहाँ तक लौकिक सुखों की प्राप्ति का संबंध है, काम्य कर्मों एवं नित्य-नैमित्तिक कर्मों में कोई विशेष अन्तर नहीं।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक, सांख्य और बौद्धों के अनुसार धर्म एक आत्मनिष्ठ (Subjective) गुण है, जो व्यावहारिक जगत् तक सीमित है। परन्तु मीमांसकों के अनुसार यह एक वास्तविक (Objective) पदार्थ है। प्रभाकर-मीमांसकों के मत में धर्म वैदिक आज्ञाओं में निहित एक अतीन्द्रिय पदार्थ है तथा भाट्टों के अनुसार यह वेद-विहित कर्मों (विधि एवं निषेधों) में सन्निहित है।

धर्म की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता कि कर्म का धर्म से किस प्रकार का संबंध है। यदि यह एक वैयक्तिक पदार्थ है तो क्या यह कर्मों की पूर्ति का परिणाम है? यह शास्त्रीय एवं अशास्त्रीय कर्मों से कैसे संबंधित है? अगर यह एक वास्तविक (Objective) पदार्थ है तो क्या यह स्वतः कर्त्तव्य-पालन है या किसी कर्म की पूर्ति का एक वास्तविक परिणाम है? क्या केवल धर्म-ग्रंथ संबंधी कर्म ही कर्म हैं? या अशास्त्रीय कर्म भी? क्या वे नैतिक कर्म भी धर्म हैं जो किसी धार्मिक अनुज्ञा का संकेत नहीं करते? ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जो धर्म एवं कर्त्तव्य-विवेक की व्याख्या में उपस्थित होते हैं।

अब हम उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, जो कर्त्तव्य-विवेक के विश्लेषण के लिए आवश्यक हैं। इस प्रसंग में हम बौद्ध, सांख्य, न्याय-वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा और वेदान्त के समर्थकों की विचारधाराओं का उल्लेख करेंगे।

कर्म का नैतिक मूल्य क्या है? इस प्रश्न पर बौद्धों ने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। बौद्धों के अनुसार यथार्थ रुप (Objective sense) में कर्मों का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। इनका वैयक्तिक इच्छा एवं उसकी पूर्ति की दृष्टि से ही कोई मूल्य है, जिससे कर्त्ता की मनोवृत्ति में सुधार होता है। इन लोगों के अनुसार शास्त्रीय कर्म में कोई वस्तुनिष्ठ आन्तरिक मूल्य नहीं है। मानसिक शुद्धि की प्रक्रिया में ही उससे सहायता मिल सकती है। यदि यज्ञादि कर्मों द्वारा आत्मा को जीवन की प्राप्ति में सहायता नहीं मिल सकती तो उसका कोई मूल्य स्वीकार नहीं किया जा सकता और नैतिक दृष्टि से वे कर्म पालन करने योग्य भी नहीं कहे जा सकते। वैदिक आज्ञानुसार पूजादि विधियों के परिपालन का कोई लाभ नहीं स्वीकार किया जा सकता, अगर उनसे यथार्थ नैतिक कर्त्तव्यों की प्राप्ति नहीं होती। यद्यपि यह बात सत्य है कि बौद्धधर्म में भी कुछ खास नैतिक नियमों के परिपालन पर बल दिया गया है; उदाहरणार्थ—श्रावकों एवं उपासकों के लिए बताए गए विभिन्न शील (सद्गुण), चर्य्याएँ (कर्त्तव्य) आदि। परन्तु, इनमें कोई रहस्यात्मक

नैतिक क्षमता नहीं है। इनका मूल्य इसी में है कि ये नैतिक साधना के माध्यम हैं तथा आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति में सोपान हैं। इस प्रकार बौद्धों के अनुसार नैतिक जीवन में अगर कर्मों का कोई मूल्य है तो वहाँ तक, जहाँ तक ये आध्यात्मिक पूर्णता में साधक है। उनकी दृष्टि में आनुष्ठानिक आडम्बर (Ceremonial formalism) व्यर्थ हैं।

कर्मों के नैतिक मूल्य को लेकर बौद्धों एवं सांख्य के माननेवालों में भी कुछ समानता है। सांख्य यह स्पष्टत: स्वीकार करता है कि वैदिक कर्मों (आनुश्रविक) का कोई खास आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। इनका तर्क है कि वैदिक कर्मों में संवेदनशील प्राणियों का आघात एवं हिंसा निहित रहती है और इस प्रकार ये अशुभजनक हैं। अत: ये वास्तविक आध्यात्मिक शुभ की प्राप्ति में सहायक नहीं हैं, जिसके कर्ता को सांसारिक जीवन के जाल से छुटकारा मिल सके। जिससे व्यक्ति को सांसारिक वासनात्मक जीवन के भँवर से मुक्ति मिल सके, वही अपवर्ग, मोक्ष या पुरुषार्थ है। इस अपवर्ग की तुलना में स्वर्ग की प्राप्ति की कामना भी तुच्छ है। गीता में भी इस बात का समर्थन किया गया है कि पुण्य के नष्ट हो जाने पर फिर इस संसार में जन्म लेना पड़ता है। "**क्षीणपुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति**" (गीता ६।२१)। सांख्य और गीता इस बात से सहमत हैं कि वैदिक कर्मों द्वारा किसी शुभ की प्राप्ति नहीं होती, जिसे वास्तविक रुप में अभीष्ट कहा जा सके। जितनी मात्रा में इनमें प्राणियों की हिंसा निहित है, उतनी मात्रा में कर्मफल-नियम के अनुसार दु:ख का होना अनिवार्य है। जो बात अन्य स्वार्थपूर्ण कर्मों पर लागू है, वही उन वैदिक कर्मों पर भी लागू है, जिनमें दु:ख एवं हिंसा निहित रहती है। अगर इनसे सुख भी उत्पन्न होता है तो वह भी अविनाशी नहीं है। **सांख्यकारिका** में लिखा है कि "**दृष्टवदानुश्रविकः सहविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**" **सांख्यप्रवचन-भाष्य** में भी कहा गया है: "**काम्येऽकाम्येपि साध्यत्वविशेषात्।**" इस प्रकार सांख्य की राय में 'दृष्ट' और '**काम्य**' दोनों ही प्रकार के कर्मों का कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। यद्यपि इन कर्मों से स्वर्ग प्राप्त हो सकता है तथापि पुण्य-क्षय होने पर पुन:दुख भोगना ही पड़ता है। बौद्ध विचारक यज्ञादि कर्मों को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते। किन्तु सांख्य के समर्थक यह मानते हैं कि इन कर्मों का स्वर्ग की प्राप्ति में कुछ हाथ हो सकता है। इस प्रकार का सुख क्षणिक होने के कारण इसकी प्राप्ति की अभिलाषा भी हेय है तथा अविद्या का सूचक है। इसमें सत्ता के यथार्थ ज्ञान के विवेक का अभाव है। इतना ही नहीं, यह अविवेक सभी कर्मों का आधार तथा आत्मा या चित्त में रजोगुण और तमोगुण के प्राबल्य का परिणाम है। सांख्य का विश्वास है कि सात्त्विक कर्मों से सत्त्व गुणों की वृद्धि होता है और इसी से विवेक उत्पन्न होता है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

न्याय-वैशेषिक वाले सांख्य एवं बौद्धों के समान,यज्ञादि कर्मों की उपेक्षा नहीं करते। इनके अनुसार धर्म एवं नैतिकता आत्मा के गुण हैं तथा वैयक्तिक हैं। ये वैयक्तिक गुण कर्त्तव्यों के समुचित पालन से प्राप्त किए जाते हैं। ये कर्त्तव्य या धर्म दो प्रकार के हैं—साधारण धर्म और वर्णाश्रम-धर्म। इन दोनो ही धर्मों के समुचित परिपालन से आत्मा में एक विशेष गुण की उत्पत्ति होती है, जिसे प्रणय कहा जाता है। इसलिए न्याय-वैशेषिक के समर्थकों का विचार है कि यज्ञादि कर्मों की, जो नैतिक महत्त्व से रहित नहीं हैं, अवहेलना उचित नहीं है। न्याय-वैशेषिक के समर्थकों का विचार है कि यज्ञादि कर्म नैतिक दृष्टि से निरर्थक नहीं हैं, बल्कि सांस्कृतिक विकास के लिए इनका परिपालन अपरिहार्य एवं अनिवार्य है। अप्राकृतिक मायिक क्षमता (Non-natural magical Potency) के कारण इनका परिपालन अनिवार्य है ऐसी बात नहीं। सांस्कृतिक एवं नैतिक विकास में सहायक होने के कारण ही इनकी मान्यता है। यज्ञादि कर्मों का समर्थन ये बौद्धिक आधार पर स्वीकार करते हैं, न कि वैदिक प्रमाण में अंधविश्वास के आधार पर। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक यज्ञादि कर्मों के संबंध में सांख्य की उपेक्षा-भावना तथा भट्ट-मीमांसा की अंधश्रद्धा, इन दोनो प्रकार के उग्रपंथी विचारों के बीच मध्यम-मार्ग का अनुसरण करता है। यद्यपि यज्ञादि कर्मों में 'जाने-अंजाने कुछ हिंसा हो सकती है, परन्तु वह हिंसा वैध हिंसा होने के कारण न्याय-सम्मत है (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)। इनसे जीवन के अभ्युदय में सहायता मिलती है, इसलिए ये पालन योग्य हैं।

पूर्व-मीमांसकों के विचार न्याय-वैशेषिकों के प्रतिकूल है। जब न्याय-वैशेषिक यज्ञादि कर्मों का नैतिक आधार पर समर्थन करता है तथा उसकी एक बौद्धिक व्याख्या देता है, तब दूसरी तरफ पूर्व-मीमांसक नैतिकता को भी आध्यात्मिकता में बदल लेते है तथा इसके औचित्य को वैदिक प्रमाणो एवं धर्म-ग्रंथ संबंधी आज्ञाओं पर आधारित मानते हैं। इन लोगों के अनुसार सभी-कृत्य यज्ञादि कर्मों के अंतर्गत ही आते है। इनकी प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि ये शास्त्रीय आदेश हैं। ये पालन करने योग्य इसलिए नहीं है कि इनकी व्यावहारिक उपयोगिता है, बल्कि इसलिए कि शास्त्रीय विधि-निषेध स्वतः प्रमाण एवं मान्य हैं।

उपर्युक्त विचारधारा का समर्थन भाट्ट मीमांसकों ने बड़े उग्र रूप में किया है। इन लोगों के अनुसार यज्ञीय और आनुष्ठानिक कर्म अपने-आप में धर्म का निर्माण करते है। शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण ये कर्म कर्त्ता को शुभ प्राप्त कराने में श्रेयस्कर है। परम शुभ या निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होने के कारण ये धर्म हैं। यह बात दोनों प्रकार के कर्मो-नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य कर्मों—पर लागू होती है।

यद्यपि प्रभाकर-मीमांसक भाट्ट मीमांसकों के समान बाह्याडम्बर को स्वीकार करते, फिर भी वैदिक आदेशों की प्रामाणिकता का विरोध नहीं करते। भाट्ट मीमांसकों की तरह ये भी इन्हें कर्त्तव्य का सार मानते हैं। परन्तु इनकी व्याख्या भाट्ट मीमांसकों की व्याख्या से कुछ भिन्न है। प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार इन कर्मों की प्रमाणिकता इनकी आंतरिक यथार्थता, स्वनिर्धारित कर्त्तव्य या नैतिक नियम की सत्यता के कारण है। इस बात से उनका 'अपूर्व' का सिद्धात (आंतरिक यथार्थता) व्यक्तिहीन नैतिक नियम की तात्विक सत्यता (Impersonal ontological virtues of the moral order) के रुप में स्थापित होता है। यद्यपि भाट्ट मीमांसक भी अपूर्व की धारणा को स्वीकार करते हैं तथापि उनके अनुसार अपूर्व की धारणा विहित कर्मों के विशिष्ट परिणामों की प्राप्ति में सहायक है, न कि नैतिक नियमों के आंतरिक सार के रुप में। इसका ज्ञान भी इनके अनुसार नैतिक प्रेरणा की किसी विशिष्ट भावना द्वारा नहीं होता, बल्कि केवल अर्थापत्ति द्वारा। धर्म-ग्रन्थों में इस तरह का कर्त्तव्य-विधान है। यह शास्त्रों द्वारा निर्देशित है इसलिए अवश्य कर्त्तव्य या धर्म है। चूँकि धर्म श्रेयस्कर और शुभ की प्राप्ति में सहायक होता है, इसलिए इन कर्मों से निश्चित ही किसी विशिष्ट परिणाम, जैसे स्वर्ग में सुख की प्राप्ति में सहायक होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी विशिष्ट परिणाम के लिए इन कर्मों में कुछ वास्तविक क्षमता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि न्याय भी अपूर्व को स्वीकार करता है, परन्तु उसे वैयक्तिक मनोवृत्ति, आत्मा का विकार या आत्मा-संस्कार के रुप में ही मानता है, जिससे बाद में चलकर नैतिक नियमों के अनुसार सुख या दुःख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह एक वैयक्तिक प्रवृत्ति है। दूसरी तरफ, प्रभाकर मीमांसक इसे तात्विक नैतिक पदार्थ के रुप में स्वीकार करते हैं।

कर्त्तव्य-विवेक विश्लेषण अध्याय के अंत में वेदान्त का मत विशेष रुप से उल्लेखनीय है। शांकर वेदान्त नैतिक जीवन का एक संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण (जिसमें क्रमिक उत्थान की अवस्थाएँ हैं) उपस्थित करता है। शंकराचार्य अपने सिद्धांत में दो प्रकार के दृष्टिकोण (अध्यात्मवादी और नीतिवादी—निरपेक्ष और सापेक्ष) को ध्यान में रखते हुए मीमांसा के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड में समुचित समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। रामानुज नैतिक कर्त्तव्यों को ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक मानते हैं। कुछ वेदान्ती यज्ञादि कर्मों को व्यावहारिक जगत् के लिए महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हैं। शंकर के अनुसार आध्यात्मिक जीवन के दो मार्ग हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। राग-द्वेषयुक्त व्यावहारिक जीवन व्यतीत करने-वालों के लिए प्रवृत्ति-मार्ग है। इस मार्ग के अनुसार इच्छित परिणाम की प्राप्ति के लिए

कर्म एक साधनमात्र है। ये इच्छित परिणाम या लक्ष्य, दृष्ट या अदृष्ट (लौकिक और अलौकिक)—दोनों ही हो सकते है। इस दृष्टिकोण से दो प्रकार के कर्त्तव्य हो जाएँगे—दृष्टार्थ कर्म (व्यावहारिक महत्त्व के) और अदृष्टार्थ कर्म (अलौकिक महत्त्व के)। वेद के 'वैदिक कर्मकाण्ड' नामक अध्याय में जहाँ कर्म के स्वरूप और महत्त्व का वर्णन है वहाँ अलौकिक कर्मों की विस्तृत चर्चा है। लौकिक कर्मो का ज्ञान व्यवहार द्वारा (जैसे सामाजिक प्रथा) और प्रायोगिक विज्ञान (जैसे आयुर्वेद, आचार-विज्ञान आदि) के द्वारा होता है। कर्मों का विधिवत पालन करने से मनुष्य सांसारिक बंधनों में फँसता है। ये कर्म सभी बंधनों और सीमाओं से छुड़ाकर सर्वो त्तम संतोष देने के बदले केवल सापेक्ष संतोष ही प्रदान कराते है। इन बातों के होते हुए भी इन कर्मो का वास्तविक महत्त्व इस बात में है कि ये मनुष्य के लिए उच्चतर नैतिकता या निवृति मार्ग-पृष्ठभूमि तैयार करने में आवश्यक हैं। उच्चतर नैतिकता में (जिसे वेदान्त में ज्ञान-मार्ग की संज्ञा दी गई है) लौकिक जीवन के कर्त्तव्य विलीन हो जाते है। गीता में भी इस स्थिति का उल्लेख है—"**सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।**" कुछ वेदान्ती कर्म को अविद्यामूलक मानते हैं।

वेदान्त में एक दूसरे मार्ग की भी चर्चा है जिसे निवृति मार्ग कहा गया है। यह सभी कर्त्तव्यों से पूर्ण मुक्ति का जीवन है। यह ऐसे नैतिक सदगुणों का क्षेत्र है, जिसका पालन बिना किसी बाह्य लौकिक लक्ष्य की दृष्टि के किया जाता है। यह साधन-चतुष्टय को जीवन में उतारने की स्थिति है। नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन से जीवन की सर्वोत्तम निष्पत्ति जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। वेदान्त के अनुसार चरम लक्ष्य आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा और ब्रह्म की समानता एवं तादात्म्य का ज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म के इस तादात्म्य के ज्ञान द्वारा आत्मा अपनी सीमाओं और बन्धनों को समाप्त कर देती है और शाश्वत असीम स्वरूप को प्राप्त कर लेती हैं। सर्वोत्तम कर्त्तव्य वही है, जो इस तरह के ज्ञान में सहायक है तथा लौकिक जीवन के अन्य कर्त्तव्यों का नैतिक महत्त्व इसी में है कि वे उच्चतर कर्त्तव्य के पालन में प्रारंभिक प्रशिक्षण प्रदान करते हैं, जिससे आत्मज्ञान होता है। शंकर के लिए आध्यात्मिक नैतिक जीवन के आदर्श की निष्पत्ति आत्मा की एक स्थिति है, जिसके लिए ज्ञान की पूर्णता अनिवार्य है। सर्वोत्तम कर्त्तव्य वही है, जो इस चरम लक्ष्य (पूर्ण ज्ञान) की पूर्ति में सहायक है। व्यावहारिक जीवन के कर्त्तव्यों का आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है यें केवल उच्चतर कर्त्तव्य की तैयारी में सहायक-मात्र है। शंकर दो प्रकार के आचारों का उल्लेख करते हैं—व्यावहारिक आचार व्यावहारिक जगत के लिए तथा उच्चतर आचार तत्त्वज्ञानियों के लिए। उच्चतर नैतिकता की स्थिति में लौकिक कर्म गौण हो जाते है। केवल ध्यान और उसके सहायक कर्म बच जाते हैं।

मनुस्मृति और गीता में एक तीसरे प्रकार के मार्ग का भी उल्लेख है—निष्काम कर्मयोग कर्म करने की कुशलता या बिना फल की आशा रखते हुए भगवत्-समर्पण-बुद्धि से कर्म करना।

रामानुज का विचार भी मनु और गीता के समान ही है। उनके अनुसार आत्मा की सर्वोत्तम अवस्था कर्म-सन्यास (Freedom from duty) की नहीं है (जैसा कि शंकर मानते हैं), बल्कि फल-रहित निष्काम-भाव से नैतिक कर्म-पालन में है। ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होना छोड़कर इन कर्मों का अपने आप में कोई आध्यात्मिक महत्त्व नहीं। ईश्वर-ज्ञान में जो कर्म बाधक हों, उसका परित्याग कर देना चाहिए। कुछ पुण्य कर्म धार्मिक महत्त्व के हैं, जिनसे स्वर्गादि फल मिलते हैं। कुछ कर्म अधार्मिक हैं, जिनसे पाप और दुःखों की उत्पत्ति होती है। फल की कामना से किए गए पुण्य कर्म ईश्वर-प्राप्ति में बाधक होते हैं। पुण्य कर्म जब कामना-रहित होकर केवल कर्त्तव्य की भावना से किए जाते हैं, तभी वे ईश्वरीय ज्ञान में सहायक होते हैं। श्रीभाष्य में लिखा है कि—"**केवलं कर्मणामल्पस्थिरफलत्वज्ञानं च कर्ममीमांसयावसेयम्**। इन कर्मों का आजीवन सभी अवस्थाओं और आश्रमों में पालन होना चाहिए—"**एवंरुपाया ध्रुवानुस्मृतेःसाधनानि यज्ञादीनि कर्माणि----तदुत्पत्तये सर्वाण्याश्रमकर्माणि यावज्जीवमनुष्ठेयानि**" (श्रीभाष्य)। इनके अनुसार सर्वोत्तम अवस्था में भी बिना किसी फल और शर्त्त के कर्त्तव्य (अनभिसंहित फल कर्म) का उचित परिपालन होना चाहिए।

इस प्रकार विभिन्न भारतीय नीतिज्ञों के विचारों में दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख पाया जाता है—**अनुभव** पर आधारित लौकिक कर्म तथा धर्मग्रंथों द्वारा निर्दिष्ट यज्ञादि कर्म। लौकिक कर्मों का केवल व्यावहारिक महत्त्व है; क्योंकि ये व्यावहारिक लक्ष्यों में ही सहायक होते हैं। लेकिन धर्म-ग्रंथों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का सबसे अधिक महत्त्व है; क्योंकि ये बौद्धिक दृष्टि से और स्वतः प्रमाण से भी न्याय-संगत हैं। केवल सांख्य ही इस विचारधारा का अपवाद है; क्योंकि वह इन कर्मों का आध्यात्मिक महत्त्व स्वीकार नहीं करता है। सभी विचारकों के अनुसार कर्त्तव्य के विश्लेषण का संबंध केवल नैतिक कर्त्तव्यों से ही नहीं है, बल्कि इसके अंतर्गत यज्ञादि कर्म और विधि-निषेध भी आते हैं। कर्त्तव्य-विश्लेषण से सभी विचारकों का तात्पर्य अधिकार की चेतना का विश्लेषण है, जिसका संबंध धार्मिक आदेशों से है। आदेशों का स्वरूप क्या है ? कर्त्ता में इस आदेश की चेतना कैसे होती है ? इस प्रेरणा से कर्त्ता का कैसे संबंध होता है ? ये सब कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो कर्त्तव्य-विश्लेषण के प्रसंग में आते हैं। और इन प्रश्नों का समाधान ही कर्त्तव्य-विश्लेषण का अभीष्ट होता है जिनकी चर्चा वैदिक कर्मकाण्डों में विधि-वाक्यों के रूप में की गई है।

## (ग) कर्मस्रोतों का वर्गीकरण

### ( The classification of the springs of actions )

भारतीय नीतिशास्त्र में नैतिक कर्मों की उत्पत्ति, जो कि कर्त्तव्य-विवेक-विश्लेषण का आवश्यक परिणाम है, के दो प्रकार के स्रोतों का उल्लेख पाया जाता है—मनोवैज्ञानिक और नैतिक । इस अध्याय में नैतिक कर्मों के विभिन्न स्रोतों की समस्या का प्रमुख भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णन प्रस्तुत किया जाएगा । इन विचारकों ने इस समस्या पर केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही चिन्तन नहीं किया है, बल्कि दूसरे नैतिक पक्ष को भी ध्यान में रखा है ।

इस विषय की चर्चा वैशेषिक, न्याय, सांख्य वेदान्त आदि विभिन्न भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों ने की है । कर्मस्रोतों के वर्गीकरण के विवेचन के लिए निम्नांकित प्रमुख ग्रंथों को चुना गया है—वैशेषिक सूत्र पर लिखित **प्रशस्तपादभाष्य**, वात्स्यायने की पुस्तक **न्यायभाष्य**, जयन्त भट्ट की **न्यायमञ्जरी**, पातञ्जलसूत्र पर लिखित **व्यासभाष्य** तथा वेदान्त के लिए विद्यारण्य स्वामी का **जीवन्मुक्ति-विवेक** । इन सभी ग्रंथों में वर्णित नैतिक कर्मों के स्रोतों के वर्णीकरण की संक्षिप्त चर्चा इस अध्याय में क्रमशः की जाएगी ।

### ( i ) वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्मस्रोतों का वर्गीकरण :

वैशेषिक सूत्र पर लिखित गुणग्रन्थ नामक भाष्य में प्रशस्तपाद ने कर्मस्रोतों का वर्णन किया है । उनके अनुसार नैतिक कर्मों की उत्पत्ति के दो स्रोत हैं—'इच्छा', जो हमेशा सुखाभिमुख होती है और 'द्वेष', जो दुःख की ओर से विमुख होता है ।

सुख की प्रवृत्ति के संबंध में प्रशस्तपाद का विचार है कि सुख की यह स्वाभाविक विशेषता है कि उसमें हमेशा-संतुष्टि का ध्यान और अनुग्रह की भावना रहती है । इसके निम्नांकित विशिष्ट परिणाम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते है—(i) अनुकूलता की भावना; (ii) सुखद वस्तु के प्रति आकर्षण की भावना (अभिष्वङ्ग और (iii) सुखद इच्छा की कई शारीरिक मुद्राएँ भी होती हैं; जैसे—मुख की प्रसन्नता, आँखों में चमक (नयनादि-प्रसाद वैमल्य) आदि ।

अनुकूलता की भावना से वैयक्तिक सुख की उत्पत्ति होती है । आकर्षण की भावना वस्तुनिष्ठ सुख या सुख के क्रियात्मक पक्ष को संकेत करती है । शारीरिक अभिव्यक्तियाँ भी सुख के क्रियात्मक पक्ष को ही सूचित करती हैं । सुख की प्रेरक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए प्रशस्तपाद निम्नलिखित तत्वों का उल्लेख करते हैं (i) इच्छित वस्तु से समीपता, (ii) सुख प्राप्त करने की चेतना (iii) वस्तु की संवेदनशीलता की उत्तेजना, (iv) शरीरिक संतुलन (स्वस्थता) और (v) धर्म । इष्टोप-

लब्धि (अभीष्ट सुख की प्राप्ति) को निरंतर ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। जो दूसरी वस्तुओं की ओर आकर्षित हो जाता है, वह इस सुख के अनुभव से वंचित हो चाता है। (विषयान्तरव्यासक्तस्य सुखानुत्पादात्)

इन लौकिक कारणों के अतिरिक्त कुछ अलौकिक कारण भी आवश्यक होते हैं। ये सुख के नैतिक कारण हैं (जैसे धर्म और कर्त्ता के गुण या सदाचार)। इनके पीछे कल्पना यह है कि धार्मिक व्यक्तियों के जीवन की व्याख्या उसकी स्वतंत्रता के उल्लेख के बिना केवल प्राकृतिक कारणों से ही नहीं की जा सकती। स्वतन्त्रता एक ऐसा तत्त्व है, जो प्राकृतिक कर्त्ता और आध्यात्मिक कर्त्ता में अंतर करता है। आध्यात्मिक व्यक्ति स्वतः अपने मूल्यों द्वारा निर्मित होता है और उसके दुःख और सुख आत्म-निर्धारित होते हैं।

न्यायकन्दली टीका में तीन प्रकार के सुखों का उल्लेख किया गया है—स्मरण से उत्पन्न सुख (स्मृति), संकल्प से उत्पन्न सुख (संकल्पज) तथा विषय और इच्छा-रहित ज्ञान से उत्पन्न सुख (आत्मज्ञान, शम, संतोष और प्रकृष्ट धर्म) प्रशस्तपाद दो प्रकार के सुखों में अंतर करते हैं—(i) सजीव या क्षणिक सुख तथा (ii) प्रशान्त और स्थायिभाव सुख। यहाँ पर स्मरणीय बात यह है कि दूसरे प्रकार के सुख की तुलना इपिक्युरस द्वारा बताए गए उत्कृष्ट सुख (Refined pleasure) से नहीं की जा सकती है; क्योंकि उनके द्वारा बताया हुआ उत्कृष्ट सुख वस्तुनिष्ठ सुख है, जबकि यहाँ पर उत्कृष्ट सुख स्वतः उत्पन्न सुख है और आत्मा के स्वरूप से संबंधित आनंद से उत्पन्न होता है।

### दुःख का विश्लेषण :

दुःख का विश्लेषण करते हुए प्रशस्तपाद का कहना है कि जिस प्रकार सुख के प्रति इच्छा की भावना प्रत्येक व्यक्ति में रहती है, उसी प्रकार दुःख में भी इसकी विरोधी भावना अर्थात् विकर्षण की रहती है। दुःख के परिणाम होते हैं—प्रतिकूलता, वस्तु के प्रति विकर्षण, दैन्य आदि। दुःख को प्रवृत्त करने की निम्न शर्त्तें होती हैं :—(i) विकर्षण की वस्तु से सामीप्य (अनभिप्रेत विषय-सान्निध्य); (ii) दुःख की आशंका (अनिष्टोपलब्धि), (iii) वस्तुओं के द्वारा इन्द्रियों की उत्तेजना (iv) शारीरिक संतुलन का अभाव और (v) अधर्म।

दुःख और सुख की भावनाओं से संकल्प की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं—इच्छा और द्वेष। अप्राप्य की प्राप्ति की लालसा ही इच्छा है (अप्राप्तस्य प्रार्थना) यह स्वार्थ या परार्थ दोनो ही प्रकार की होती है। अपने लिए प्राप्त हो जाने की भावना को स्वार्थ-इच्छा कहते है। जब हम यह कहते हैं कि 'यह मुझे प्राप्त हो जाए (अप्राप्तस्य वस्तुनः स्वार्थं प्रति या इच्छा इदं मे भूयात्), तो यह स्वार्थ इच्छा है।

दूसरों के लिए प्राप्त हो जाने की कामना को परार्थ-इच्छा कहते हैं। जैसे 'यह उसे प्राप्त हो जाए' (**अस्य इदं भवतु**)। **न्यायकन्दली** टीका में परार्थवादी इच्छा को एक स्वतन्त्र इच्छा के भेद के रूपमें स्वीकार नहीं किया गया है। इच्छा की निम्नांकित शर्तें हो सकती हैं—(i) आतमा का मस्तिष्क के साथ संयोग (आतममनः संयोग), (ii) सुख का अनुभव, (iii) समान सुख भविष्य में प्राप्त करने की आशा की स्मृति आदि। कभी-कभी वस्तु के अभाव में सुख के साधनों की स्मृति से भी इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

इच्छा के अंतर्गत आनेवाले कर्म के स्रोतों का प्रशस्तपाद निम्नांकित रूप में उल्लेख करते हैं—

(१) काम—काम शब्द से यौन-सुख की प्राप्ति की अपेक्षा, स्वर्ग में सुख की कामना, या धन की कामना आदि का भी संकेत होता है।

(२) अभिलाषा—भोजन और पेय (Food and drink) की कामना (**भोजनं तत्र इच्छा अभिलाषः**)।

(३) राग—बार-बार वस्तुओं के उपभोग की वासना पुनः पुनः विषयरञ्जनेच्छा)।

(४) संकल्प—अप्राप्य को प्राप्त करने का संकल्प (**अनागतस्य अर्थस्य करणेच्छा**)।

(५) कारुण्य—बिना आतमलाभ की इच्छा के दूसरों के दुःख को दूर करने की दया-भावना (**स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःख हाणे**)।

(६) वैराग्य—संसार के दोषों को देखते हुए उनके परित्याग की इच्छा (**दोषदर्शनात् विषयत्यागेच्छा**)।

(७) उपघा—दूसरो को धोखा देने की प्रवृत्ति (**परप्रतारणेच्छा**)।

(८) भाव—बिना शरीरिक अभिव्यक्ति के केवल चिह्नों द्वारा अभिव्यक्त इच्छा (**अन्तर्निगूढेच्छा लिङ् गैराविर्भाविता या इच्छा सा भावः**)

(९) चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा (**क्रियाभेदात् इच्छा भेदः**)।

इस प्रकार प्रशस्तपाद के कर्मस्रोतों के विभाजन की उपर्युक्त सूची में वैयक्तिक और अवैयक्तिक—दोनों ही प्रकार की कामनाओं का स्थान है। साथ-ही-साथ क्षणिक इच्छा और अधिक काल तक फलदायक इच्छा में भी भेद किया गया है। भोग की इच्छा और काम करने की इच्छा में भी अंतर किया गया है। इस सूची में वैराग्य को भी द्वेष का भेद न मानकर इच्छा का एक भेद माना गया है। इसका कारण यह है कि किसी भी प्रकार की घृणा को मानसिक संतुलन और पारमार्थिक स्वतंत्रता या मोक्ष की धारणा से असंगत माना जाता है, जिसके लिए

वैराग्य को आवश्यक साधन माना गया है। एक बात और, जो प्रशस्तपाद के विभाजन में महत्त्वपूर्ण है, जिससे कि बौद्धधर्म के विचारों से मतभेद हो जाता है, वह है दया और दुःख की महत्ता को लेकर। प्रशस्तपाद ने 'दया' (Compassion) को एक प्रकार का अभावमूलक अनुभव माना है। जिसे बौद्धों ने भावात्मक रूप में, 'मुदिता' और 'मैत्री' के रूप में स्वीकार किया है, उसको वे अत्यधिक महत्त्व नहीं देते। प्रशस्तपाद की इस दृष्टि का जैवीय तथा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्व है। जीवन-निर्वाह एवं सामाजिक स्थिरता को बनाए रखने के लिए दुःखों का निवारण सुखों के विस्तार से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ तक कि दुःख के प्रति सहानुभूति रखना अपने मित्रों की मंगलकामना से अधिक आवश्यक है। भारतीय नैतिक जीवन में दया और वैराग्य को उच्च स्थान दिया गया है। बुद्ध तथा महावीर जैसे महान् नैतिक सुधारकों ने भी दूसरों को दुःख से मुक्ति दिलाना ही अपने जीवन का आदर्श माना है। श्रीमद्भागवत आदि में भी दुःखी और आर्त्त प्राणियों को मुक्त करना ही सर्वोच्च आदर्श माना गया है। **"कामये दुखतप्तानां प्राणिनामार्त्तनाशनम्।"**

द्वेष का विश्लेषण करते हुए प्रशस्तपाद ने आवश्यक शर्तों का उल्लेख किया है : (i) आत्मा का मन से संयोग; (ii) दुःख का अनुभव और (iii) भविष्य में होने वाले दुःख की आशंका। उनके अनुसार द्वेषयुक्त कर्मों के स्रोत निम्नोक्त प्रकार के हैं :

(१) **क्रोध**—यह द्वेष का एक भेद है, जो क्षणिक उफानों में अपने-आप को समाप्त कर बैठता है। यह कुछ शारीरिक अभिव्यक्तियों का कारण भी है, जैसे तीव्र प्रकम्पन और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में विशिष्ट परिवर्त्तनों के साथ-साथ पूरे शरीर की उत्तेजना (**शरीरेन्द्रियादिविकारहेतुःक्षणमात्रभावी द्वेषः क्रोधः**)।

(२) **द्रोह**—यह अलक्षित विकार और चिरानुबद्ध होता है, अर्थात् इसकी कोई प्रत्यक्ष शारीरिक अभिव्यक्ति नहीं होती और यह बहुत काल तक रहनेवाला होता है।

(३) **मन्यु**—यह उस प्रकार का अन्तर्निहित द्वेष है, जैसा घायल व्यक्ति अपने घातक के प्रति अनुभव करता है, जब उसे यह ज्ञान रहता है कि प्रतिशोध करने में वह असमर्थ है (**अपकृष्टस्य प्रत्यपकारासमर्थस्य अन्तर्निगूढद्वेषो मन्युः**)।

(४) **अक्षमा**—यह एक प्रकार का द्वेष है, जो दूसरे में निहित अच्छे गुणों के प्रति कोई व्यक्ति अनुभव करता है।

(५) **अमर्ष (ईर्ष्या)**—यह एक प्रकार का द्वेष है, जिसकी उत्पत्ति तुलनात्मक हीनता की भावना से होती है।

उपर्युक्त द्वेष के जो भेद बताए गये हैं, वे सक्रिय प्रेरणाओं (Active impulses) से अधिक भावना और संवेग (Emotion) हैं। फिर भी ये क्रियाओं को प्रेरित करते हैं और इसी कारण इन्हें कर्म के स्रोतों के अन्तर्गत रखा गया है।

जहाँ तक इच्छा और द्वेष के विवरण का संबंध है, प्रशस्तपाद का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर अवलंबित है। इसके अतिरिक्त कर्मस्रोतों के जिन भेदों की चर्चा उन्होंने की है, वे निरीक्षण पर आधारित मात्र है। इच्छा के स्वार्थमूलक और परार्थमूलक रूप में विभाजन का आधार सामाजिक-नैतिक (Socio-ethical) हैं। प्रशस्तपाद के वर्गीकरण में आत्मा के मन के साथ संबंध को इच्छा और द्वेष—दोनों ही के लिए आवश्यक माना गया है। यह संबंध केवल व्यावहारिक जीवन में ही होता है। पारमार्थिक अवस्था में यह संबंध समाप्त हो जाता है।

**(ii) न्याय के अनुसार कर्मस्रोतों का वर्गीकरण :**

प्रशस्तपाद द्वारा बतलाए गए नैतिक कर्मों के स्रोतों के वर्गीकरण में संशोधन लाते हुए नैयायिक सभी स्रोतों के बदले एक ही प्रमुख मौलिक स्रोत की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार भ्रम या मोह (Error or delusion) ही सभी प्रवृत्ति-जनक कर्मों का स्रोत है। इस विषय की विवेचना वात्स्यायन तथा कुछ आधुनिक नैयायिक—जयन्तभट्ट आदि—ने विस्तृत रूप में की है।

वात्स्यायन के अनुसार रागों और संवेगों की उत्पत्ति एक ही स्रोत (मोह) से होती है। मोह से प्रिय वस्तु के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है (अनुकूल विषयेषु रागः) और अप्रिय वस्तु के प्रति विकर्षण (प्रतिकूलविषयेषु द्वेषः)। इसी आकर्षण और विकर्षण से विभिन्न प्रकार के रागों ओर संवेगों—जैसे असत्य, माया प्रपंच, लोभ आदि की उत्पत्ति होती हैं। इनसे शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ संचालित होती है।

वात्स्यायन का उपर्युक्त वर्गीकरण प्रशस्तपाद के वर्गीकरण से दो प्रमुख बातों में भिन्न है। पहली बात तो यह है कि वात्स्यायन आकर्षण और विकर्षण के मौलिक कारणों का पता लगाते हैं कि इनकी उत्पत्ति भ्रम या मोह से ही होती है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तपाद प्रवृत्तिजनक कर्मों के स्रोतों का केवल मनोवैज्ञानिक आधार पर ही वर्गीकरण नहीं करते, अपितु नैतिक आधार पर भी। वात्स्यायन के अनुसार बुद्धि की अस्तव्यस्तता (Disorder) ही रागों की उत्पत्ति का मुख्य कारण है।

जयन्तभट्ट अपनी न्यायमञ्जरी में न्याय के प्राचीन दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कर्मस्रोतों की सविस्तार व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार प्रवृत्तिजनक क्रियाओं के तीन प्रमुख स्रोत है—मोह, राग और द्वेष (Delusion, attraction and aversion)। मोह एक ऐसा मिथ्या विश्वास है, जो वस्तुओं के वास्तविक

स्वरूप को नहीं जानने के कारण उत्पन्न होता है (**वस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणो मिथ्यावसाय:**)। इसे 'पापतम' या 'पापशिरोमणि' भी कहा जाता है, क्योंकि राग-द्वेषों की उत्पत्ति मोह या भ्रम के कारण ही होती है। जयन्तभट्ट के अनुसार मोह से उत्पन्न कर्मस्रोतों में मुख्य तथा निम्नोक्त तत्त्व निहित रहते हैं :

(क) मिथ्याज्ञान—वस्तु जैसी अपने-आप में नहीं है, वैसा स्वरूप उसमें आरोपित करना (**अतस्मिन् तद्बुद्धि**)।

(ख) विचिकित्सा—निश्चित ज्ञान के अभाव में किसी वस्तु के बारे में निर्णय देना (**किंस्विदिति विमर्श:**)। इसे संशय भी कहा जा सकता है।

(ग) मान (अहंकार)—बिना वास्तविकता के अपने-आप को सबसे बड़ा होने का भान (**असद्गुणाध्यारोपेण स्वोत्कर्ष बुद्धि:**)।

(घ) प्रमाद—असावधानी के कारण उत्पन्न कर्त्तव्य की अवहेलना (**अवज्ञया कर्त्तव्याऽकरणम्**)।

इस प्रकार मोह से राग-द्वेष की प्रेरणा और उससे संबंधित तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष का अर्थ है उस वस्तु की कामना, जो प्रिय लगे (**अनुकूलेषु अर्थेषु अभिलाषलक्षण:**)।

राग के अन्तर्गत आने वाली इच्छा के विभिन्न भेद हैं; जो निम्नांकित प्रकार के होते हैं :

(१) काम—प्रशस्तपाद ने इसका विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया है, जिसके अतर्गत यौन-लालसा के अलावा स्वर्ग के सुख की कामना और अर्थ की कामना भी आती है।

(२) मत्सर—दूसरों के साथ हिस्सा बँटाने के कारण जिसमें किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता है, उससे भी अलग न होने की इच्छा को मत्सर कहा जाता है (**यदन्यस्मै निवेद्यमानमपि वस्तु धनवन्न क्षीयते तत् परित्यागेच्छा मत्सर:**)।

(३) स्पृहा—सांसारिक वस्तु और संपत्ति पाने की कामना।

(४) तृष्णा—सांसारिक जीवन का बराबर उपभोग करते रहने की लालसा।

(५) लोभ—निषिद्ध वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा।

द्वेष इच्छा का विरोधी है। उसके सन्म्बध में जयन्त भट्ट का विचार है कि इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है कि इसमें अप्रिय वस्तुओं के प्रति विकर्षण की भावना रहती है (**प्रतिकूलेषु असहलक्षण: द्वेष:**)।

विभिन्न प्रकार की असहन, भावनाओं से द्वेष की उत्पत्ति होती है (**असहन-भेदप्रकारभेदात्**), जिनमें मुख्य निम्नोक्त तत्त्व हैं।

(i) क्रोध—यह एक दुःखद ढंग का विस्फोटक संवेग है, जिसका क्षणिक आविर्भाव होता है और प्रज्वलनात्मक (आग की तरह जलाने वाला) प्रभाव पड़ता है। इसकी शारीरिक अभिव्यक्ति वक्र भौंहों और टेढ़ी आँखों में देखी जा सकती है।

(ii) ईर्ष्या—दूसरों का सामान्य लाभ देखकर भी उससे द्वेष की भावना रखना (साधारणेऽपि वस्तुनि परस्य दर्शनाद्यसहनमीर्ष्या)।

(iii) असूया—दूसरों में उच्च गुणों को देखकर नहीं सह सकना (परगुणोत्वर्षाऽसहिष्णुता)।

(iv) द्रोह—दूसरों को चोट पहुँचाने की प्रवृत्ति।

(v) अमर्ष—कोई शारीरिक विकार के प्रकट हुए बिना चिरकालिन गुप्त दुर्भावना। (अदृष्टमुखादिविकार: परंप्रतिमन्युरमर्ष:)।

जयन्त भट्ट का विचार है कि राग और द्वेष के अंतर्गत जो भेद हैं, वे मोह के प्रभाव में आकर ही काम करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार प्रवृत्ति-जनक कर्मों के दो स्रोत हैं और दोनों ही की उत्पत्ति मोह या बुद्धि की अव्यवस्था के कारण होती है—(i) पहली कोटि में वे कर्म हैं, जो साक्षात् मोह से उत्पन्न होते हैं और इच्छा के प्रेरक हैं, (ii) दूसरी कोटि में वे हैं, जो राग और द्वेष के द्वारा कार्य करते हैं। इन दोनों ही कर्मस्रोतों में अन्तर यह है कि जो केवल मोह से उत्पन्न होते हैं, उनमें भावना की मात्रा कम रहती है। जो कर्म आकर्षण या विकर्षण से प्रेरित होकर किए जाते हैं, उनमें भावना की प्रबलता रहती है। जयन्त भट्ट भ्रम और संशय को भी कर्मस्रोतों के अन्तर्गत परिगणित करते हैं।

जहाँ तक राग, द्वेष और मोह का संबंध है, जयन्तभट्ट का विश्लेषण वैज्ञानिक जान पड़ता है। परन्तु इसके अतिरिक्त जितने भेदों की चर्चा वे करते हैं, वे गणना का विस्तार ही प्रतीत होते हैं।

जयन्तभट्ट और प्रशस्तपाद दोनों के वर्गीकरण लगभग समान ही हैं। जहाँ तक राग-द्वेष के भेद की गणना का प्रश्न है, जयन्तभट्ट की सूची अधिक विस्तृत है। फिर भी जयन्तभट्ट के वर्गीकरण में 'वैराग्य' और 'कारुण्य' का उल्लेख नहीं है। प्रशस्तपाद की सूची में भी तृष्णा और स्पृहा का उल्लेख नहीं है। प्रशस्तपाद के अनुसार राग और द्वेष की भावनाएँ ही कर्म के प्रमुख स्रोत हैं। जयन्तभट्ट उन्हें मोह का परिणाम मानते हैं।

### (iii) योग के अनुसार कर्मस्रोतों का वर्गीकरण :

पतञ्जलि अपनी पुस्तक योगसूत्र के 'साधनापाद' के ३४वें सूत्र में प्रवृत्ति-जनक कर्मों के स्रोतों का उल्लेख करते हैं। इनके अनुसार क्रूरता, मिथ्यावादिता और कामासक्ति आदि मनोविकारों के स्रोत लोभ, क्रोध और मोह-हैं। उदाहरण

के लिए पशु-हिंसा की प्रवृत्ति मांस-भक्षण के लोभ से उत्पन्न होती है। किसी वस्तु से आघात पहुँचने पर ही क्रोध-संबधी मनोविकार उत्पन्न होता है। जब इस तरह का वितर्क मन में आने लगता है कि यज्ञों में की गई हिंसा द्वारा पुण्य अर्जित किया जा सकता है तब इससे मोह के मनोविकार उत्पन्न होते हैं :

"वितर्कहिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्विका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खज्ञानानन्तफला इति।"[1]

उपर्युक्त मनोविकार लोगों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। कुछ लोग अपने मनोविकारों को बाहरी क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। कुछ लोग दूसरों को ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं, जिनसे उन्हें संतुष्टि मिलती है। इन मनोविकारों में तीव्रता (Intensity) की दृष्टि से मात्रागत भेद होते हैं। कुछ मृदुल या कोमल होते हैं। कुछ मध्यम प्रकार के होते हैं और कुछ अधिक तीव्र (अधिमात्रा) होते हैं।

व्यास अपने भाष्य में मनोवेगों के मात्रागत भेदों का और सविस्तार वर्णन करते हैं। उनके अनुसार मात्रा के आधार पर मनोवेगों के कई उपविभाजन भी हो सकते हैं। व्यास के अनुसार क्षीणता के हिसाब से भी मनोवेगों के तीन विभाजन हो सकते हैं—अत्यन्त क्षीण, सामान्य क्षीण और स्वल्प क्षीण।

इस प्रकार पतञ्जलि और व्यास मनोवेगों को मात्रा की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में विभाजित करते हैं—अत्यन्त क्षीण मनोवेगों से लेकर अत्यन्त उग्र मनोवेगों तक। व्यक्ति अपने-आप या दूसरे के माध्यम से या दूसरों के अनुमोदन से इन मनोवेगों से ग्रस्त होता है—इस तत्त्व का भी विवेचन है।

### (vi) वेदान्त के अनुसार कर्मस्रोतों का विभाजन :

विद्यारण्य स्वामी की **जीवनमुक्ति-विवेक** नामक पुस्तक में प्रवृत्तिजनक कर्मों के स्रोतों की विस्तृत व्याख्या पाई जाती है। इस पुस्तक में कुछ स्वाभाविक और जन्मजात प्रवृत्तियों के आधार पर कर्मस्रोतों का वर्गीकरण किया गया है। उनके मतानुसार क्रोध या अन्य प्रेरणाओं का कारण मस्तिष्क की कुछ निगूढ़ संस्कारजन्य प्रवृत्तियाँ हैं, जिनकी उत्पत्ति अभ्यासगत पूर्व आसक्ति (Habitual past indulgence) से होती है। ऐसी प्रवृत्तियाँ वासनात्मक हैं, और राग-द्वेषात्मक संवेगों को उत्पन्न करती है। ये नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ या वासनाएँ शुभ या अशुभ दोनों ही प्रकार की होती हैं।

1. योगसूत्र, ३४।

शुद्ध वासनाएँ वे हैं; जो जन्मविनाशिनी हैं अर्थात् जिनके द्वारा आवा-गमन से मुक्ति मिलती है। वे निम्नकोटि की वासनाओं से भिन्न हैं; क्योंकि वे विचारपूर्ण और निर्णयात्मक हैं। शुद्ध वासनाएँ निम्नांकित प्रकार की होती हैं :

(१) मैत्री—दूसरों की प्रसन्नता में सहानुभूति रखना।
(२) कारुण्य—दुःख या दुःखी के प्रति दया की भावना रखना।
(३) मुदिता—प्राणियों के सुख में आनंद का अनुभव करना।
(४) उपेक्षा—अधर्म के प्रति विमुख रहना।
(५) शम—चित्त का शमन
(६) दम—बाह्य इन्द्रियों का दमन।
(७) तितिक्षा—दुःख सहने की शक्ति।
(८) संन्यास—वैराग्य-भावना।

वेदान्त-मत में समानता, इन्द्रिय-दमन तथा अनेक परार्थवादी प्रवृत्तियों (जैसे करूणा, सहानुभूति आदि) को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

एक और स्मरणीय बात है कि वेदान्त नीतिशास्त्र में शुद्ध वासनाओं, जैसे मैत्री तथा मुदिता आदि की जो विवेचना की गई है, उसी से मिलता-जुलता भाव ईसाई धर्म की शुभ-इच्छा (Good will) में भी है। ईसाई धर्म में भी सभी पाणियों के प्रति प्रेम रखने की भावना पर जोर दिया गया है।

अशुभ वासनाओं के अंतर्गत लोक-वासना, देह-वासना, मानस-वासना (जैसे, दर्प, दंभ, अहंकार) आदि समाविष्ट हैं। इनसे बंधनों की उत्पत्ति होती है। काम्य-मान और भुज्यमान विषय-वासनाएँ मुक्ति में बाधक होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र की विवेचना केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टियों से भी की गई है।

## (द) सामाजिक पक्ष (Social aspect)

(i) **साधारण धर्म :**
(ii) **विशेष धर्म;**
  (क) **वर्ण धर्म;**
  (ख) **आश्रम-धर्म।**

"न जटाओं से, न गोत्र से, न जन्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है, बल्कि जिसके चित्त में सत्य और धर्म है, जो पवित्र अंतःकरण वाला है, वही ब्राह्मण है।"

धम्मपद, ३९३

**मनु के अनुसार धर्म की व्याख्या का विवेचना :**

प्राचीन भारतीय धर्म एवं नीति-संबंधी विभिन्न ग्रंथों में वर्ण एवं आश्रम-व्यवथा का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। उनके सर्वविध पालन पर भी बल दिया गया है। वेदों, ब्राह्मण-ग्रंथों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों, नीति-ग्रंथों आदि में वर्णाश्रम-धर्म की विस्तृत चर्चा है। मनु, प्रशस्तपाद, मीमांसक, रामानुज आदि के विचार इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस अध्याय में उपयुक्त सभी विचारों की अलग-अलग चर्चा प्रस्तुत न कर केवल मनु के विचारों की ही व्याख्या की जाती है; क्योंकि इनके विचार सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं और प्राचीन सामाजिक जन-जीवन पर इनके विचारों की अमिट छाप पड़ी है। मनु के युग की सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण और आश्रम-धर्म ही था।

मनु सभी प्राणियों को स्वयंभू ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न बताते हुए धर्म की परिभाषा एवं उसके विभिन्न स्रोतों का वर्णन करते हैं।

'धर्म' शब्द का प्रयोग विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थों में किया गया है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार 'धर्म मनुष्य का अपने से बाह्य एक शक्तिशाली सत्ता में विश्वास है, जिसके द्वारा वह अपनी सांवेगिक आवश्यकताओं की तृप्ति चाहता है और जीवन की स्थिरता प्राप्त करता है, जिसकी अभिव्यक्ति वह उपासना एवं सेवा-संबंधी कार्यों में करता है।'[1] प्रस्तुत अध्याय में 'धर्म' शब्द का प्रयोग भारतीय परम्परा के अनुसार किया जा रहा है। भारतीय परम्परा में 'धर्म का प्रयोग कर्त्तव्य, गुण, नियम, न्याय, शील, कर्म आदि अर्थों में किया जाता है। इनके अनुकूल होनेवाले कार्यों को धर्म कहा जाता है; इनसे विपरीत आचरण को 'अधर्म' की संज्ञा दी जाती है। शाब्दिक रूप में 'धर्म' शब्द संस्कृत के 'धृ' (धृञ् धारणे) धातु में 'मन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। अत; जिससे लोक-कल्याण हो अथवा जो लोक को धारण करे; वही 'धर्म' हैं। ऋग्वेद में यह शब्द अनेक बार आया है और सभी स्थलों पर इसका प्रयोग विशेषण या संज्ञा के रूप में हुआ है। वैदिक युग में इस शब्द के निश्चित अर्थ को बतलाना बड़ा कठिन है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धारणा करना, सहायता करना, पोषण करना आदि विभिन्न अर्थों में किया

---

1. पाश्चात्य दर्शन में धर्म की निम्न प्रकार से परिभाषा दी जाती है :

"Religion is man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life and which he expresses in act af worship amd service."

—Galloway ! The Philosoyhy ot Religion. P. 184

गया है ।[1] कहीं-कहीं ऋग्वेद में **धर्म** का प्रयोग धार्मिक अध्यादेशों के रूप में आया है ।[2] धर्म के दो रूपों की चर्चा की गई है—प्रथम धर्म और सनातन धर्म ।[3]

उपनिषद्-काल में, विशेषकर छान्दोग्योपनिषद् में 'धर्म' शब्द का प्रयोग विहित कर्मों का पालन करने से संबंधित है (२।२३)। यहाँ पर तीन प्रकार के धर्म के आधार-स्तम्भों की चर्चा की गई है—यज्ञ, अध्ययन और दान। अग्निहोत्रादि यज्ञ, नियमपूर्वक ऋग्वेद आदि का पठन अध्ययन, और वेदी के बाहर भिक्षा माँगनेवालों को यथाशक्ति धन देना दान है। इसी प्रकार यहाँ पर बड़े विस्तृत रूप में ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं संन्यासी के धर्मों की भी चर्चा की गई है। इन अवस्थाओं से सबंधित धर्मों का जो पालन करता है, वह अमरत्व को प्राप्त करता है। यहाँ 'धर्म' को वर्णाश्रम-धर्म से संबंधित किया गया है। बाद के उपनिषदों में धर्म का प्रयोग विभिन्न कर्त्तव्यों के रूप में किया गया है। वेदों के अध्ययन के बाद जब ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता हैं तब आचार्य उसे विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करने की शिक्षा बेते हैं। इन विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करना ही धर्म का अनुसरण कहा गया हैं; जैसे **'सत्यं वद' 'धर्म चर' 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** आदि। **भगवद्गीता** में भी वर्णाश्रम-अनुकूल कर्त्तव्यों का पालन करना ही धर्म है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'**। **याज्ञवल्क्य स्मृति में** वर्णाश्रम-अनुकूल कर्त्तव्यों के पालन के अर्थ में ही 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। **तन्त्रवार्त्तिक** में कहा गया है कि वर्ण एवं आश्रम के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है **(सर्वधर्म सूत्राणां वर्णाश्रम धर्मोपदेशित्वात्)। महाभारत में 'धर्म'** शब्द का प्रयोग 'लोक का जिसके द्वारा रक्षण या धारण किया जाय', इसी अर्थ में किया गया है—**"ध्रियते लोकः अनेन इति धर्म"**, **'धरति धारयति वा लोकम् इति धर्मः"**, **"ध्रियते यः स धर्मः"**, **"धारणाद्धर्ममित्याह धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः"** (महाभारत, कर्णपर्व, ६९।५८)। **वैशेषिक सूत्र में** कणाद ने धर्म की परिभाषा देते हुए लिखा है कि धर्म वह है जिससे सभी लोगों को इसलोक की सफलता के साथ ही परलोक की सफलता भी प्राप्त हो—**"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः।"** इन परिभाषाओं के अतिरिक्त, अनेक आंशिक

---

1. **"पितनं स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। इममञ्जस्यामभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्। त्वे धर्माण आसते जहूभिः सिञ्चतीरिव।"** —ऋग्वेद १।१७४
2. **"तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।"** —ऋग्वेद
3. First ordinances and ancient ordinances. —**ऋग्वेद १११।१७।११०**

परिभाषाएँ भी प्रचलित हैं; जैसे—अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है—"अहिंसा परमो-धर्म:" (महा० अनु० ११५।१), सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है—"नहि सत्यात् परोधर्म:" (वनपर्व, ३७३।७६), नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है—"आचार: परमोधर्म:" (मनु० १।१६०)।

मनु के अनुसार राग-द्वेष-रहित धार्मिक पण्डितों ने जिसका सेवन किया है और हृदय से मुख्य माना है, वही धर्म का सार है।[1] धर्म के मूल स्रोत की चर्चा करते हुए मनु ने लिखा है कि सम्पूर्ण वेद, वेद के जाननेवालों की स्मृति और उनका शील, साधु पुरुषों का आचार और अपने मन का संतोष—ये धर्म के मूल हैं।[2] धर्म के साक्षात् लक्षणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि वेद स्मृति, सदाचार और अपनी रुचि के अनुसार आचरण करना—ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण हैं :

'वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: ।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"[3]

मनु ने धर्म के कुछ स्थूल लक्षणों की भी चर्चा की है, जो संख्या में दस हैं (जिनकी चर्चा साधारण धर्मों के प्रसंग में की जाएगी। इन धर्मों के पालन द्वारा राष्ट्र एवं व्यक्ति को लोक और परलोक में सभा प्रकार के काम्य पदार्थों की उप-लब्धि हो सकती है। इस प्रकार भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म लोगों को एक सूत्र में बाधने का साधन है। यह उन कर्मों की समष्टि है, जिनके द्वारा वैयक्तिक, सामाजिक राष्ट्रीय, नैतिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में लौकिक एवं पारलौकिक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

मनु ने मुख्यत: 'धर्म' शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य (Duty) के अर्थ में ही किया है। उनके अनुसार दो प्रकार के धर्म हैं—वर्णाश्रम और साधारण धर्म।

(i) **साधारण धर्म** (Universal duties) :—साधारण धर्म वे धर्म हैं, जो सभी मनुष्यों के लिए जाति, दल और अवस्था के भेद से परे किए जानेवाले आव-श्यक कर्त्तव्य हैं। मनु ऐसे दस धर्म गिनाते हैं :

(i) धृति (धैर्य);
(ii) क्षमा;
(iii) दम;
(iv) अस्तेय (चोरी नहीं करने की प्रवृत्ति),

---

1. मनुस्मृति, अध्याय २, श्लोक १।
2. वही, श्लोक ६।
3. वहीं, श्लोक १२।

(v) शौच;

(vi) इन्द्रिय-निग्रह;

(vii) धी (बुद्धि);

(viii) विद्या;

(ix) सत्य;

(x) अक्रोध ।[1]

शंखस्मृति में लिखा है कि क्षमा, सत्य और शौच सब वर्णों के द्वारा पालन करने योग्य हैं और यही कारण है कि उन्हें साधारण धर्म की संज्ञा दी गई है ।[2]

**(क) वर्ण-धर्म :**

मनु के अनुसार ऐसे कर्त्तव्यों को, जो विभिन्न सामाजिक वर्गों (जातियों) एवं आश्रमों के अनुसार पालन किए जाएँ, वर्णाश्रम-धर्म कहा जाता है । मनु के समय का समाज चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) एवं चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास) में विभाजित था । अब मनु के अनुसार बताए हुए विभिन्न वर्णों एवं आश्रमों का एक-एक कर संक्षिप्त वर्णन किया जाता है ।

(१) **ब्राह्मण के कर्त्तव्य:**—मनु के अनुसार वेदादि का पढ़ाना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना—ये छह **ब्राह्मण के** कर्त्तव्य हैं ।

**"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।**
**दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।" (मनु० १।८८)**

ब्राह्मणग्रथों के अनुसार बिद्याओं के लिए ब्राह्मण, रक्षा के लिए क्षत्रिय, कृषि-व्यापार के लिए वैश्य और सेवा-कर्म के लिए शूद्ध हैं (तै०ब्रा० ३।४।१) । **अत्रिस्मृति** के अनुसार शौच, शुभकार्य, शारीरिक परिश्रम नहीं करना, असूया (डाह) न करना, अस्पृहा, दया तथा दान—ये सब ब्राह्मण के प्रमुख कर्त्तव्य बताए गए हैं । **शंखस्मृति** के अनुसार यजन, याजन, दान, अध्यापन. प्रतिग्रह तथा अध्ययन—ब्राह्मण के प्रमुख कर्त्तव्य हैं ।[3] **विष्णुपुराण** के अनुसार भी दान देना, यज्ञों द्वारा देवताओं का यजन करना, स्वाध्यायशील होना, नित्य स्नान-तर्पण करना, किसी का अहित न करना, सर्वदा समस्त प्राणियों से मैत्री रखना तथा समबुद्धि रखना-

---

1. "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम् ।।" (मनुस्मृति, ६।९२)
2. डॉ० भीखनलाल आत्रेय : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० १२०।
3. डॉ० आत्रेय भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ११९ ।

ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। गीता में भी अंतःकरण का निग्रह, इन्द्रियों को वश में रखना, बाह्य और आंतरिक शुद्धि, क्षमा, सरलता, स्वाध्याय, श्रद्धा, अध्ययन-अध्यापन तथा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना ब्राह्मण के धर्म बतलाए हैं।

**"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।**
**ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥" (गीता १८।४२)**

**कामन्दकीय नीतिसार** की राय में "विशुद्ध रीति से यज्ञ कराना तथा विद्या पढ़ाना और विशुद्ध आचरण-संपन्न व्यक्ति से दान लेना—ये तीनों व्यापार मुनियों ने ब्राह्मणों के लिए बतलाए हैं।"[1]

(२) **क्षत्रिय के कर्त्तव्य** : मनु के अनुसार सब प्रकार से समस्त प्रजाओं की रक्षा करना, ब्राह्मणों को दान देना, यज्ञ करना, वेदादि का अध्ययन करना और भोगासक्त नहीं होना—ये सब क्षत्रिय के कर्त्तव्य हैं।

**प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।**
**विषयेष्व प्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनुस्मृति १।८९)**

गीता के अनुसार भी क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं—शूरता-वीरता, बल, धैर्य, चतुराई, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रभु होकर रहना।

**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**
**दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ (गीता १८।४३)**

**विष्णुपुराण** के अनुसार भी क्षत्रिय को उचित है कि ब्राह्मणों को यथेच्छ दान दे विविध यज्ञों का अनुष्ठान करे, अध्ययन करे, शस्त्र धारण करे, पृथ्वी की रक्षा करे। (विष्णुपुराण ३।८।२६—२९)[2] **विष्णुस्मृति** और **शंखस्मृति** के अनुसार क्षत्रिय का सबसे प्रमुख कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा या पालन करना। अत्रिस्मृति में भी यजन, दान, अध्ययन, तप, शास्त्र से जीवन, भूतों का रक्षण आदि क्षत्रिय के कर्त्तव्य हैं।

**कामन्दीय नीतिसार** में सभी जीवों की रक्षा करना तथा शस्त्र के द्वारा अपने जीवनकाल-पर्यन्त वृत्ति का निर्वाह करना—ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्त्तव्य बतलाए गए हैं।[3]

(३) **वैश्य के कर्त्तव्य**—मनु के अनुसार पशु-पालन, दान देना, यज्ञ करना, वेदादि पढ़ना; व्यापार करना, व्याज खाना तथा खेती करना—ये वैश्य के कर्म हैं—

---

1. वहीं, पृ० ३३८।
2. वहीं, पृ० २२७।
3. वहीं, पृ० ३२९।

**"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्यनमेव च।**
**वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।"** मनु० १।९०)

गीता के अनुसार खेती, गो-पालन, क्रय-विक्रय करना और सत्यव्यवहार—ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं—

**"कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।"** (गीता १८।४४)

विष्णुपुराण तथा कामन्दकीय नीतिसार के अनुसार वैश्यों के पशुपालन वणिज्य और कृषि प्रमुख कर्म हैं (३।८।३०) अत्रिस्मृति के अनुसार दान, अध्ययन, वार्ता (खेती-बारी), यज्ञ आदि वैश्य के प्रधान कर्त्तव्य हैं।

(४) **शूद्र के कर्त्तव्य**—मनु के अनुसार शूद्रों के लिए केवल एक ही धर्म है कि वे अपने से श्रेष्ठ तीनों वर्णों की सेवा प्रसन्न-चित्त से करें।

**"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।**
**एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥"** (मनु० १।९१)
**पुनः शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मोनैश्रेयसः परः॥"** (मनु० ९।३३४)

गीता से अनुसार सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है—

**"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वाभावजम्।"** गीता १८।४४)

अत्रिस्मृति के अनुसार वार्ता (खेती करना), द्विजातियों की सेवा तथा बढ़ई का कार्य आदि शूद्र के कर्त्तव्य कर्म हैं। **पराशरस्मृति** के अनुसार भी द्विजाति की सेवा करना शूद्र का धर्म बतलाया गया है तथा विशुद्ध वृत्ति से आजीविका करना एवं माली, बढ़ई, लोहार का और नाच के, गाने आदि का काम भी शुद्र का है (४।२१)[2]।

**(ख) आश्रम-धर्म :**

प्राचीन भारतीय समाज में आश्रम-व्यवस्था प्रचलित थी और प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए विभिन्न आश्रमों एवं उनसे संबंधित कर्त्तव्यों के पालन पर बल दिया जाता था, जिसे आश्रम-धर्म की संज्ञा दी गई है। उन्हें क्रमशः ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम कहा जाता है। उनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं :

(१) **ब्रह्मचर्य या विद्यार्थी जीवन के कर्त्तव्य**—मनु के अनुसार प्रत्येक वर्ग के रहनेवाले के जीवन की २५ वर्ष तक की अवस्था को ब्रह्मचर्यावस्था कहा जाता है।

---

1. वही, पृ० १२०।
2. वही पृ० ३३९।

इस अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए गाँवों से दूर जंगलों में गुरु के साथ विभिन्न कलाओं और विज्ञानों का अध्ययन करना पड़ता था। इस काल का पूरा जीवन गुरु की छत्रच्छाया में बीतता था। नजदीक के गाँवों में गृहस्थों से अन्न प्राप्त कर अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ता था। परमार्थ-चिन्तन, अपने तथा गुरु के लिए भिक्षाटन, गुरु की सेवा तथा अपने शरीर को नियमित रूप से स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम करना, विभिन्न प्रकार की विद्या का अभ्यास करना तथा ऐश-आराम की सामग्रियों से परहेज करना आदि इस अवस्था के प्रमुख कर्तव्य हैं। **धर्म-सूत्र** के अनुसार ब्रह्मचारी को आचार्य के अधीन रहना चाहिए, किसी भी परिस्थिति में हिंसा नहीं करनी चाहिए, दिन में कभी नहीं सोना चाहिए, सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए तथा अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिए (मैथुन-वर्जन)। **धर्म सूत्र** के अनुसार ब्राह्मण की मेखला मूँज की, क्षत्रिय की मेखला ताँत की और वैश्य की मेखला ऊन की होनी चाहिए। ब्राह्मण का दण्ड पलाश-वृक्ष की शाखा का, क्षत्रिय का दण्ड वटवृक्ष की शाखा का और वैश्य का दण्ड बेर या गूलर वृक्ष की शाखा का हो।[1] **मनुस्मृति** के अनुसार ब्रह्मचारी को हमेशा गुरू की अपेक्षा अन्न, वस्त्र तथा वेश में हीन रहना चाहिए और गुरु के सबेरे उठने के पहले उठना तथा सोने के बाद सोना चाहिए (मनु० २।१७४)। उपनयन-संस्कार के बाद गुरु में नित्य समाहित-चित होकर रहे तथा दण्ड, कौपीन उपवीत, मृग-चर्म और मेखला धारण करे (व्यासस्मृति १।२३)।[2] **शंखस्मृति** के अनुसार मधु, मांस, अजन, श्राद्ध, गीत, नृत्य, हिंसा, दूसरे की निन्दा तथा विशेष रूप से स्त्री-सामीप्य का परित्याग करे, ब्रह्मचारी न स्नान से, न मौन से, न अग्नि की सेवा ने स्वर्ग जाता है, केवल गुरु-सेवा से ही उसे स्वर्ग मिल सकता है (शंख० ५।१०)[3], **मनुस्मृति** में ऐसा कहा गया है कि जहाँ गुरु की निन्दा या बुराई होती हो, वहाँ ब्रह्मचारी को कान बंद कर लेना चाहिए या वहाँ से अन्यत्र चला जाना चाहिए (२।२००)। मनु की धारणा थी कि आपत्ति-काल में अब्राह्मण से भी अध्ययन करे तथा अध्ययन-काल तक उस अब्राह्मण गुरु का अनुगमन तथा शुश्रूषा करे (मनु० २।२४६)। आचार्य के मरने पर गुणयुक्त गुरु-पुत्र में, गुरु-पत्नी में अथवा गुरु के सपिन्ड लोगों में गुरु के समान वर्ताव करे (मनु० २।२४७)। ब्रह्मचारी गुरु के पास ३६ वर्ष (प्रति वेद के क्रम से १२-१२ वर्ष) तक या उसका आधा १८ वर्ष (प्रति वेद के हिसाब से।

1, वही; पृ० ८४।
2. वहीं, पृ० १२०।
3. वहीं, पृ० १२१।

६-६ वर्ष ) तक, अथवा उसके चतुर्थांश ९ वर्ष (प्रति वेद के हिसाब से ३-३ वर्ष) तक अथवा वेदों के अध्ययन करने की अवधि तक, तीनों वेदों का अध्ययन-रूप व्रत करे[1] । **महाभारत** के अनुसार ब्रह्मचारी के सात दोष हैं—आलस्य, मद, मोह, चंचलता, गोष्ठी, स्तब्धता, अभिमान और त्याग का अभाव । सुख चाहनेवाले को विद्या कहाँ ? और विद्या चाहनेवाले को सुख कहाँ ? सुखार्थी को विद्या का त्याग करना चाहिए और विद्यार्थी को सुख का । **मनुस्मृति** के अनुसार जो ब्रह्मचारी शरीर की समाप्ति तक गुरु की सेवा करता है, वह ब्रह्म के शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है । जो व्यक्ति विचलित न होकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह उत्तम स्थान को पाता है और इस संसार में फिर नहीं आता ।

(२) **गार्हस्थ्य-आश्रम और उसके कर्त्तव्य**—जीवन की २५ वर्ष से ५० वर्ष तक की अवस्था का नाम गार्हस्थ्य जीवन दिया गया था । इस अवस्था में विवाहादि संस्कारों को करते हुए पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्व निभाया जाता था । यह अवस्था चारों अवस्थाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी ; क्योंकि अन्य अवस्थाएँ किसी-न-किसी रूप में इस अवस्था पर निर्भर करती हैं । इस अवस्था में व्यक्ति समुचित ढंग से पारिवारिक जीवन बिताते हुए पंच महायज्ञ (देव-यज्ञ, ऋषि-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, नृ-यज्ञ तथा भूत-यज्ञ) आदि को करे । बच्चों, वृद्धों और अतिथियों को पहले भोजन कराए । जिस प्रकार सभी नद और नदियाँ समुद्र में आश्रय पाती है, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर निर्भर करते हैं (मनु ६।७०) । **वसिष्ठस्मृति** में सभी आश्रमों से गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ बताते हुए लिखा गया है कि गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है; प्रतिदिन गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर देवता, मनुष्य पशु-पक्षी आदि जीवित रहते हैं । जो गृहस्थाश्रमी देवताओं, अतिथियों, माता-पिता, आदि वृद्धजनों, पितरों और अपने को अन्नादि से संतुष्ट नहीं करता, वह श्वास लेता हुआ भी मृतक के समान है (मनु० ३।७२)[2] । संध्या-वन्दन, यज्ञ, स्वाध्याय, पितरों का तर्पण, गृह कार्यों को करना, अतिथि पूजन, संतानोत्पत्ति, गुरुभक्ति आदि प्रमुख कर्त्तव्य हैं । **दक्षस्मृति** के अनुसार गृहस्थों को अष्टादश विकर्मों—असत्य, परस्त्री गमन, अखाद्य भोजन, अगम्या-गमन अपेय का पान, चोरी, हिंसा, श्रुति विरुद्ध कर्म का आचरण, चुगली, कपट, काम, क्रोध, अप्रियता, द्वेष, दम्भ, परद्रोह आदि का परित्याग करना चाहिए । गृहस्थों के लिए नौ गोप्य वस्तुएँ हैं—अवस्था, धन, गृह का छिद्र, मंत्र, मैथुन, औषध, तप, दान और अपमान (दक्षस्मृति, ३।१४) । गृहस्थ के लिए नौ वस्तुएँ प्रकाश्य है-कर्मों का

1. वही, पृ० १२१ ।
2. वही, पृ० १२१-२२ ।

निर्णय, कर्ज का चुकाना, दान' अध्ययन, विक्रय, कन्यादान' वृषोत्सर्ग (श्राद्ध के उपरान्त साँढ़ छोड़ना)' एकान्त में किया पाप तथा प्रशंसा (दक्षस्मृति, ३।१५)[1] । **दक्षस्मृति** के अनुसार यदि पतिव्रता स्त्री हो तो गृहस्थाश्रम से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ आश्रम नहीं है (दक्ष० ४।१ ) ।[2] **मत्स्यपुराण** के अनुसार गृहस्थ को चाहिए कि धर्म से उपार्जित किए हुए धन को प्राप्त करके इस धार्मिक धन से यज्ञ करे तथा हमेशा ही अतिथि को भोजन कराए। खाने के पहले' जो वस्तु दूसरों के यहाँ से आई हुई न हो' इसी वस्तु को दान में देना चाहिए, यही गृहस्थों का प्राचीन धर्म है ।[3] **मार्कण्डेयपुराण** के मत में ''गृहस्थ बनकर मनुष्य सम्पूर्ण जगत् का पोषण करता है' इसलिए वह अभिलषित लोकों को प्राप्त करता है। पितर' मुनि, देवता, भूत' मनुष्य' कृमि' कीट' पतंग, पक्षी' पशु और असुर—सभी जीव गृहस्थ से ही जीवित रहते हैं तथा तृप्ति प्राप्त करते हैं।''[4] **ब्रह्मवैवर्त** पुराण में ऐसा उल्लेख है कि यद्यपि चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम पुण्यशाली है और यह स्त्री, पुत्र पौत्र आदि मूर्त्तियों से युक्त घर जन्म जन्मान्तरीण तपस्या का फल है (१।२३।८), फिर भी एक दृष्टि से गृहस्थाश्रम को कहा जाए तो वह एक मात्र दुःख का ही कारण है न कि सुख का। क्योंकि यह तपस्या, स्वर्ग, भक्ति तथा मुक्ति आदि सुख प्रदान करनेवाले कर्मों का एक मात्र प्रतिबंधक है (१।२३।२०) ।[5] **कामन्दकीय नीतिसार** के अनुसार अग्निहोत्र करना, अपनी-अपनी विहित वृत्ति द्वारा जीविका चलाना, धर्म द्वारा विवाहित और स्वस्थ पति के साथ पर्वों को छोड़कर रतिक्रिया करना, देव, पितर, अतिथि की पूजा और दीन दुःखियों के प्रति सहानुभूति, श्रुति-स्मृति के अर्थ को जानकर उनके अनुसार चलाना ही गृहस्थों के धर्म हैं (४।२६) ।[6]

(३) **वानप्रस्थाश्रम और उसके कर्त्तव्य**— यह जीवन की ५० वर्ष से लेकर ७५ वर्ष तक की अवस्था का नाम है, इसमें मनुष्य गार्हस्थ्य-जीवन के सभी कर्त्तव्यों कों पूरा करने के बाद प्रवेश करता था। इस अवस्था में सांसारिक जीवन का त्याग कर पारलौकिक जीवन के लिए चिन्तन करना, जंगल में एकान्त-वास करना और इसके अतिरिक्त पंचमहायज्ञों को भी करना पड़ता था। इस अवस्था के प्रमुख कर्त्तव्य हैं— अनवरत स्वाध्याय, तपस्या, समता, मुदिता, दानशीलता, अपरिग्रह,

1, वही, पृ० १२३ ।
2. वही, पृ० १२३ ।
3. वही, पृ० २५२ ।
4. वही, पृ० २४७ ।
5. वही, पृ० २५४ ।
6. वही पृ० ३३६ ।

प्रेम और सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना। **मनुस्मृति** के अनुसार गृहस्थ जब देखे कि मेरे बाल सफेद हो गए हैं। त्वचा शिथिल हो गई है तथा पौत्र उत्पन्न हो गया है, उस समय उसे वैराग्य-युक्त हो, वानप्रस्थ-आश्रम के वन का सहारा लेना चाहिए (६।२)। **विष्णुपुराण** में ऐसा उल्लेख है कि वानप्रस्थी केवल अन्न का परित्याग करने से स्वर्ग (सिद्धि) को प्राप्त करता है। **शंखस्मृति** के अनुसार परमोत्तम योग के द्वारा ही यति सिद्धि प्राप्त करता है (५।११)। हानि होने पर दुःखी न हो तथा जो कुछ प्राप्त हो, उसी से जीवन-निर्वाह करे, स्वादिष्ट अन्नों के रसास्वादन में न लगे तथा किसी के घर में भोजन न करे, दृष्टि से देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिए, सत्य से पवित्र वचन का प्रयोग करे तथा मन से पवित्र आचरण करे (२।१२२।७।३।६)।[2]

विद्या, तप का वृद्धि तथा शारीरिक शुद्धि के लिए ऋषि, ब्राह्मण, गृहस्थ आदि से सेवित मार्ग का अवलंबन करते हुए अनुसरण करे। **मत्स्यपुराण** के अनुसार वानप्रस्थी अपने ही बल पर जीवन-निर्वाह करनेवाला हो, पाप से दूर रहता हो दूसरे लोगों की भलाई करनेवाला हो तथा जो अपने शत्रु को भी कष्ट प्रदान न करता हो और जो वन में रहकर नियमित रूप से सात्विक आहार करने वाला हो इस प्रकार का ही वानप्रस्थी मुनि अपनी प्रधान सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[3] **कामन्दकीय नीतिसार** के अनुसार जटा" धारण करना, अग्निहोत्र करना, भूमि पर सोना, मृग छाल पहनना, निर्जन वन में रहना, दूध फल मूल और निवार (वन में उपजा अन्न) खाना, दान न लेना, तीन बार स्नान करना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, देवताओं और अतिथियों की पूजा और सेवा करना— ये वानप्रस्थियों के धर्म हैं।[4] **महाभारत** के अनुसार वानप्रस्थी के धर्म हैं—सज्जनता क्षमा, दम, शौच, वैराग्य अमत्सरता, अहिंसा और सत्य बोलना।

(४) **संन्यास आश्रम एवं उसके कर्त्तव्यः**—यह जीवन की अंतिम अवस्था है, जो ७५ वर्ष से लेकर मृत्यु तक की अवस्था है। ऊपर बताए गए तीन आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ) वैश्य और क्षत्रिय के लिए भी पालन करने योग्य हैं, किन्तु संन्यास-आश्रम केवल ब्राह्मण के लिए ही है। वानप्रस्थ अवस्था अपने-आप क्रमशः संन्यास-आश्रम में परिणत हो जाती है। यह पूर्णतः त्याग की अवस्था है, जिसमें मनुष्य सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर केवल ईश्वर-

---

1. वहीं, पृ० १२४।
2. वहीं, पृ० १२४।
3. वहीं, पृ० २५२।
4. वहीं, पृ० ३४०।

चिन्तन में लगा रहता है। संन्यासी को शरीर, इन्द्रिय और जीवन के सभी विषयों के प्रति अनासक्ति की भावना रखते हुए बुद्धि की समता प्राप्त करनी चाहिए जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके। **मनुस्मृति** के अनुसार "आत्मा में अग्नि का समारोपण करके तथा समस्त भूतों को अभय दक्षिणा देकर ब्राह्मण गृह से सन्यास लेता हुआ चतुर्थ आश्रम (सन्यास) में प्रवेश करे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रहमचर्य, अगुलकत (एकत्र न करना), सर्वभूतों पर दया आदि संन्यासी के नित्यप्रति के व्यवहार हैं। वह स्त्रियों के साथ सभाषण, उनका आलिंगन, प्रेक्षण, नृत्य, गान, सभा सेवा आदि का परित्याग करे।"[1] कुटुम्ब-परिवार से तथा समाज से अलग रहकर नित्य अकेला विचरण करे तथा माँगी हुई अथवा बिना माँगी हुई भिक्षा से जीवन-निर्वाह करे। समस्त सुख तथा आनन्द का परित्याग कर पुत्र और ऐश्वर्य सुख का भी परित्याग करे। **विष्णुस्मृति** के चौथे अध्याय में (श्लोक २ से १७ तक) भी संन्यासी के उपर्युक्त प्रकार के कर्त्तव्यों का ही उल्लेख है। **हारीतस्मृति** के अनुसार संन्यासी सदा इस तरह का चिन्तन करे कि 'जो समस्त प्राणियों का हृदय है, जो सबके हृदय में स्थित है और जो सब मनुष्यों द्वारा जानने योग्य है, वही मैं हुँ, **संवर्त्तस्मृति** में भी लिखा है कि संन्यासी वेद के अभ्यास में रत रह-कर आत्मविद्या में निरत रहे। फिर निर्जन वन में मुक्त की भाँति रहे और अकेला मन, वाणी तथा काया के कर्मों द्वारा नित्य चिन्तन करे। **महाभारत** के शान्तिपर्व में संन्यासी के धर्मों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "सब परिग्रहों को छोड़कर और आत्मा में ही अग्नि का आरोपण करके आत्मयाजी (आत्मा में यज्ञ करनेवाला) आत्मा से ही प्रेम करनेवाला, आत्मा के साथ ही खेल करने-वाला और आत्मा के ही संबंध में विचार करनेवाला हो। जो द्विज, परिव्राजक सब प्राणियों को अभय-दान देता है। वह प्रकाशवाले लोकों को जाता है और वहाँ पर अनंतता का अनुभव करता है (शान्तिपर्व, १२। १०।५८२)[2]। **कामन्दकीय नीतिसार** के अनुसार संन्यासी के निम्नलिखित धर्म हैं—"सब आरम्भों (धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए नए कामों के आरम्भों) का त्याग, भिक्षा द्वारा भोजन, वृक्षों के नीचे रहना, किसी से कोई वस्तु न लेना, किसी से द्रोह न करना, सब प्राणियों का समान समझना, प्रिय और अप्रिय दोनों से असंग (अनासक्ति), सुख-दुःख में हर्ष, शोक आदि विकारों के रहित, बाहर-अन्दर का शौच (पवित्रता), वाणी पर नियंत्रण, ब्रह्मचर्य, सब इन्द्रियों के विषयों की ओर से वृत्ति खींचकर धारणा और ध्यान का अभ्यास, भावों की

१. वहीं, पृ० १२५।
२. डॉ० भीखनलाल आत्रेय: भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० १८१।

शुद्धि—ये सब संन्यासियों के धर्म हैं।"[1] संन्यासी और गृहस्थ की तुलना स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार की है—

**"महत्सर्षपभर्यद्वत् सूर्यखद्योतयोरिव।**
**सरित्सागरयोर्यद्वत् तथा भिक्षुगृहस्थयोः ॥**

(विशालतम पर्वत और राई में, सूर्य और जुगनू में, सागर और सरिता में जितना अंतर है, उतना ही विशाल अंतर संन्यासी और गृहस्थ में होता है।)[2]

**(ग) समीक्षा:**

मनु की वर्ण एवं आश्रम-व्यवस्था का तत्कालीन युग में बड़ा ही महत्त्व रहा है। प्राचीन भारतीय समाज को सुव्यवस्थित करने में इससे विशेष सहायता मिली। प्राचीन भारत के द्विजातियों, खासकर ब्राह्मणों ने जितना ज्ञान-भंडार समाज के लिए संचित किया उतना प्राचीन समय में शायद ही किसी देश में हुआ होगा। फिर भी यह व्यवस्था बदली हुई परिस्थितियों एवं समस्याओं के कारण वर्त्तमान समय के लिए समीचीन नहीं है। आज जब देश में लोकतंत्र की भावना विकसित हो चुकी है एवं जीवन-यापन के लिए व्यवसाय का कोई बंधन नहीं रह गया है, वर्ण-व्यवस्था को केवल जन्म के आधार पर स्वीकार करना लोकतंत्र एवं मानव-समानता की भावना के विरुद्ध होगा। इसलिए वह व्यवस्था आज के युग के लिए उपयुक्त नहीं है।

शुरू में वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण, कर्म एव व्यवसाय था। बाद में चलकर जन्म ही उसका आधार बन गया। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न अशिक्षित एव कुसंस्कारी भी ब्राह्मण ही कहा जाने लगा। इसके विपरीत, शूद्र-कुल में उत्पन्न संतों को भी वह सामाजिक स्थान नहीं मिला। व्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा सामाजिक प्रगतिशीलता का मार्ग अवरुद्ध होकर धर्मान्धता एवं कट्टरता का प्रादुर्भाव हुआ। आज के युग में उस समय की वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता नहीं है। आज का समाज बड़ा ही जटिल, लचीला और परिवर्त्तनशील है। आज के समाज में मनु के युग के समान केवल चार पेशे या व्यवसाय ही नहीं हैं, बल्कि अनेक प्रकार के व्यवसाय हैं, जिनका कोई सीमा-निर्धारण नहीं किया जा सकता। अब कोई भी व्यवसाय, उदाहरण के लिए, आधुनिक प्रगतिशील खेती भी, ऐसा नहीं है, जिसे बिना पढ़े-लिखे तथा वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में शुरु किया जा सके। सभी प्रकार के व्यवसायों में अब बुद्धि, वैज्ञानिक एवं तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है।

---

1. वही, पृ० ३४०।

2. स्वामी विवेकानन्द: विविध प्रसंग, पृ० ४०।

मनु की वर्ण-व्यवस्था की सबसे बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इससे निम्न जातियों के प्रति घृणा की भावना को बल मिला ।यहाँ तक कि उन्हें अछूत कह-कर युगों तक विकास से वंचित रखा गया । अगर उन्हें भी समुचित विकास का मौका दिया गया होता तो निश्चय ही उनमें भी प्रतिभावान् व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता । निम्न जातियों में उत्पन्न कुछ को किसी कारण से जो सुअवसर एवं प्रोत्सा-हन मिला, उन्होंने इस तरह की कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया, जिससे यह मानना पड़ता है कि तथाकथित निम्न जातियों में भी प्रतिभा की कमी नहीं है । उदाहरण के लिए मध्यकालीन संतों, जैसे कबीर, दादू, रैदास आदि के नाम लिए जा सकते हैं ।

आज के युग की आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों को देखते हुए ऐसा लगता है कि जाति एवं-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की अपेक्षा है; क्योंकि इसके द्वारा अनेक प्रकार की सामाजिक बुराइयों तथा वर्ग-संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है । आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति अपना मनपसंद व्यवसाय चुने तथा सभी प्रकार की शिक्षा एवं भावी विकास के लिए उसे स्वतंत्र मौका मिले, इसी की हमें अपेक्षा है । अपनी इच्छा से व्यवसाय चुनने एवं उत्तम-से-उत्तम रीति से उसका पालन करने को ही स्वधर्म या स्वकर्म कहा गया है ।

मनोविज्ञान बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ अभि-रुचियाँ एवं विशेषताएँ हुआ करती हैं । उनको ध्यान में रखते हुए ही अगर मनुष्य अपने व्यवसाय का चुनाव करे तो वह भावी जीवन में अधिक सफल हो सकता है । इसलिए यह उचित है कि प्रत्येक लड़के को बचपन में ही उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों एवं अभिरुचियों के अनुकूल व्यवसाय-चयन की स्वतंत्रता मिले, तभी उन कर्मों को वह उत्तम-से उत्तम ढ़ंग से कर सकेगा । अपनी प्रवृति और संस्कार के अनुकूल कुशलतापूर्वक अपने व्यवसाय को करने को ही गीता में 'योग, कहा गया है—',योगः कर्मसुकौशलम ।" वर्तमान में इसी प्रकार के योग को अपनाने की आवश्यकता है । यही कारण है कि आधुनिक प्रशिक्षण में व्यवसाय-चयन (Vocational choice) और व्यवसाय-निर्देशन (Vocational guidance) तथा व्यवसाय-प्रशिक्षण (Vocational training) पर विशेष बल दिया जाता है ।

वर्ण-व्यवस्था के ही समान आश्रम-व्यवस्था का भी उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण ही था । यह व्यवस्था भी प्राचीन काल में लाभप्रद रही है, परन्तु वर्तमान काल में यह भी अनुपयुक्त हो गई है । सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण न तो यह व्यवस्था अब चल सकती है और न इसको कायम रखना ही आवश्यक है । आश्रमों की जगह पर आज शैक्षणिक संस्थाएँ एवं विश्व-विद्यालय नगरों में बनाये जाते हैं जहाँ सभी वर्गों के बालक-बालिकाएँ, स्त्रियाँ

और पुरुष सुविधा से आ-जा सकें और रह सकें। सह-शिक्षा के प्रचार एव प्रसार के कारण लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ पढ़ते हैं तथा बराबर संपर्क में रहते हैं और साथ-साथ खेल-कूद मनोरंजन, वाद-विवाद तथा सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में स्वतंत्रतापूर्वक भाग लेते हैं। वर्त्तमान शिक्षा में अब यौन-संबंधी कोई भेद-भाव नहीं रह गया है। ऐसी परिस्थिति में पुरानी रीति के ब्रह्मचर्य-आश्रम की उपयोगिता अब नहीं रह गई है।

वर्त्तमान परिस्थिति में ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम का जीवन न तो संभव है, न वांछनीय। वर्त्तमान युग में सभी लोग अच्छे आधुनिक ढंग के मकान, आराम की सामग्रियाँ एवं यातायात की सुविधा की आवश्यकता महसूस करते हैं। आधुनिक संन्यासी भी ऐश्वर्यमय जीवन बिताना चाहते हैं। आध्यात्मिकता की जगह विज्ञान और तकनीक ने ले ली है। ऐसी परिस्थिति में अब वानप्रस्थ या संन्यास-आश्रम की कल्पना व्यर्थ है।

हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य-आश्रम की विचारधारा को वर्त्तमान परिस्थिति में संयम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह बात सत्य है कि वर्त्तमान परिस्थिति में ब्रह्मचर्यादि व्रतों का उतनी कट्टरता से पालन नहीं किया जा सकता, परन्तु यह तो माना ही जा सकता है कि समाज में रहने के लिए आत्म-संयम नितांत आवश्यक है। जब समाज में संयम नष्ट होता है तब समाज की अधोगति शुरू हो जाती है। असंयम से जीवन पशुवत् बन जाता है। वर्त्तमान काल में जनसंख्या का प्रश्न, पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद आदि के प्रश्न, असंयम के ही परिणाम हैं। स्वस्थ समाज की योजना (Planning) संयम के बिना नहीं हो सकती। आधुनिक युग में परिवार नियोजन (Family Planning) उपकरणों औषधियों द्वारा किया जा रहा है। इसके पीछे भी मूलभूत धारणा संयम की ही है।

इसी प्रकार वर्त्तमान युग में यद्यपि आश्रम-व्यवस्था को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता नहीं है, तथापि कम-से-कम हमें अपने जीवन को योजनाबद्ध बनाने की तथा जीवन की अंतिम अवस्था की शान्ति के लिए भी गार्हस्थ्य जीवन से अवकाश प्राप्त कर लोकोपकार एवं आध्यात्मिक चिन्तन करने की आवश्यकता तो है ही।

## (इ) आध्यात्मिक पक्ष (Spiritual aspect)

**(i) पुरुषार्थ-विवेचन;**

**(ii) मोक्ष-धारणा एवं मोक्ष-साधन।**

"नैतिकता स्वयं लक्ष्य नहीं है : मुक्ति ही उसका लक्ष्य है, वह तो मोक्ष-प्राप्ति का साधन-मात्र है।"

—विवेकानन्द : विविध प्रसंग, पृ० ८१।

### (i) पुरुषार्थ-विवेचन :

भारतीय दर्शन एवं नीतिशास्त्र जीवन के प्रति एक आध्यात्मिक विश्वास पर आधारित है। आध्यात्मवाद उसे कहते हैं जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है, जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।[1]

मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि उसे जिन वस्तुओं से सुख मिलता है, उनके प्रति उसे आकर्षण रहता है तथा उनकी प्राप्ति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहता है। जिन वस्तुओं से उसे दुःख प्राप्त होता है, उनके प्रति विकर्षण की भावना रहती है तथा किसी तरह प्राप्त होने पर भी उनसे छुटकारा पाने की प्रवृत्ति रहती है। मानव-जीवन किस प्रकार सर्वांगीण सुखी रहे और जीवन के विभिन्न दुःखों से कैसे आत्यन्तिक निवृत्ति मिले (अर्थात् सुख-प्राप्ति और दुःख-निरोध) यही भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ कहा गया है। मनुष्यों की प्रवृत्ति एवं स्वभाव को ध्यान रखते हुए ही पुरुषार्थ की कल्पना की गई है, जिससे लौकिक एवं पारमार्थिक किसी भी आदर्श की पूर्ति में कमी न हो।

भारतीय दार्शनिकों ने यह पूर्णतया अनुभव किया था कि मानव-जीवन क्षणभंगुर है। मनुष्य समुद्र की उठती और गिरती हुई लहरों के समान जन्म लेता है और मर जाता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए और किस प्रकार की वस्तु की प्राप्ति में उसे अपनी शक्ति का व्यय करना करना चाहिए? यह मनुष्य के नैतिक जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न है। इन्हीं प्रश्नों एवं जीवन के भावी विकास की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने चार प्रकार के पुरुषार्थों (लक्ष्य, उद्देश्य, अर्थ या प्रयोजन) की कल्पना की है—धर्म (Moral value), अर्थ (Economic value), काम (Sexual value) और मोक्ष (Spiritual value)। यहाँ जीवन के आदर्शों का इतना सुन्दर विभाजन है कि इसके अंतर्गत सभी व्यक्तियों के आदर्श आ सकते हैं; क्योंकि यह विभाजन मानसिक विकास को ध्यान में रखते हुए ही किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ये सारी समस्याएँ अपने-आप आती रहती हैं और उन सबमें मस्तिष्क को संतुलित रखते हुए उनकी समुचित प्राप्ति का प्रयास करना ही पुरुषार्थ है।

**धर्म** उन नियमों को कहते हैं, जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति और कल्याण होता है, जिनपर चलने से व्यक्ति को जीवन में सुख-

---

1. जेम्स, विलियम : प्रैगमैटिज्म, पृ १०६-१०७।

शान्ति मिले और समाज में संतुलन, सामंजस्य और शान्ति स्थापित हो। अर्थ से तात्पर्य है धन-संपत्ति और सांसारिक विषयों को प्राप्त करने के सभी साधन। अर्थ जीवन के लिए कितना आवश्यक है, इसे सभी जानते हैं। आज के युग में तो यह और भी महत्वपूर्ण हो गया है। धन के बिना न तो मनुष्य जी सकता है और न उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ही संभव है। यहाँ तक कि धन के बिना धर्म, काम आदि पुरुषार्थों की भी पूर्ति नहीं हो सकती। काम का अर्थ है सुख-भोग अर्थात् इन्द्रियों और मन के साथ संपर्क स्थापित करके उनके द्वारा आनंद का अनुभव करना। संसार के विषयों को भोगने की इच्छा-पूर्ति का ही नाम है काम काम का दो अर्थों मे प्रयोग किया जाता है—संकुचित और विस्तृत। संकुचित अर्थ में काम से तात्पर्य यौन-वासना की तृप्ति से है। परन्तु, विस्तृत अर्थ में किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिय और मानसिक सुख को काम कहते हैं। **महाभारत** के अनुसार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को अपने विषयों में प्रवृत्त होने के समय जो प्रसन्नता होती है, उसे ही काम कहते हैं।

**"इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।**
**विषये वर्त्तमानानां या प्रीतिरुपजायते।**
**स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुक्रमः॥"**

मोक्ष चौथा पुरुषार्थ है। इसके पहले के तीनों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ और काम—मनुष्य के भौतिक सुखों के साधन हैं, इसलिए ये सापेक्ष हैं और किसी-न-किसी समय में समाप्त होने वाले हैं। फलतः इन्हें चरमलक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। चरमलक्ष्य मोक्ष ही हो सकता है; क्योंकि यह हमारे शुद्ध स्वरूप का द्योतक है। मोक्ष को निःश्रेयस भी कहा जाता है; क्योंकि इससे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई दूसरा मूल्य नहीं है। सभी सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित रहने को मोक्ष कहा गया है। यह आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति की अवस्था है तथा कुछ लोगों के अनुसार यह आनंद की प्राप्ति की भी अवस्था है।

भारतीय दर्शन में जो विचारक पुनर्जन्म और परलोक में विश्वास नहीं करते और मानव को भौतिक शरीर-मात्र ही मानते हैं (जैसे चार्वाक), उनके लिए तो क्षणिक इन्द्रिय-सुख और लौकिक भोग-विलास के अतिरिक्त जीवन का और कोई उद्देश्य ही नहीं है। इसीलिए भौतिकवादी विचारकों ने दो ही पुरुषार्थों को स्वीकार किया है—अर्थ और काम। उनका तो आदर्श है कि जब तक जियो सुख से जिओ—**"यावद्जीवेत्सुखं जीवेत।"** सुख जैसे प्राप्त हो सके, वही आदर्श है। इस विचारधारा के समर्थकों के अनुसार काम ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। आधुनिक सभ्यता में तो काम की ही प्रधानता है। आज के युग में जितने भी वैज्ञानिक

आविष्कार है उनका भी उद्देश्य मानव जीवन को अधिक सुख-सुविधा और भोग प्रदान कराना हैं। यहाँ तक कि आज की राज्य व्यवस्था का भी उद्देश्य है पर्याप्त मात्रा में भोजन, वस्त्र और सुन्दर-से-सुन्दर निवासादि की व्यवस्था करना।

इस प्रकार जो लोग काम को ही जीवन का आदर्श मानते हैं, वे लोग कई बातों को भूल जाते हैं। एक तो भोगों के विषयों को प्राप्त करने के लिए धन का अपव्यय करना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि विषय-भोगों में अधिक लिप्त रहने में अपनी शक्ति का भी ह्रास करना पड़ता है यहाँ तक कि अत्यधिक विषय भोगों में रत रहने से कुछ दिनों के बाद वह व्यक्ति भोगों को भोगने लायक भी नहीं रह जाता और इससे अनेक रोगों की भी उत्पत्ति होती है यद्यपि भोग आरंभ में सुख देनेवाले होते हैं, तथापि अंत में उनका भी परिणाम दुःखदायक ही होता है कोई भी विषय-सुख स्थायी नहीं होता; सभी सुख क्षणिक और अंत में दुःख देनेवाले होते हैं ऐसा देखा जाता है कि भोगी बाद में चलकर रोगी और अल्पायु हो जाता है, भोगों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष भी करना पड़ता है; क्योंकि सभी भोगों को प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु भोग की वस्तुएँ सीमित मात्रा में ही होती हैं अतः काम को जीवन का परम पुरुषार्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कुछ लोगों के अनुसार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ विषय-भोग न होकर धन-संग्रह है धन-संपत्ति आदि साधनों को ही नीतिशास्त्र में 'अर्थ' कहा गया है यहाँ तक कि बहुत-से नीति और धर्म ग्रंथों में भी अर्थ की प्रशंसा की गई है; क्योंकि अर्थ, काम और धर्म में सहायक है—**"सर्वो गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।"** सभी गुण धन के आश्रित हैं। जिसके पास धन है, वही सुखी रह सकता है, विषय-भोगों को संगृहीत कर सकता है तथा धर्म एवं यज्ञादि का भी आयोजन कर सकता है वर्त्तमान युग में धन का सबसे अधिक महत्त्व है। जैनधर्म में अर्थ जीवन के लिए बड़ा आवश्यक बताया गया है तथा किसी के धन को ले लेने को हिंसा कहा गया है प्राचीन काल में जीवन के लिए जरूरी चीजें भी कम मूल्यों में मिलती थीं, परंतु आज उन्हें प्राप्त करने के लिए भी अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। आज हमारी आवश्यकताएँ भी बढ़ गई हैं, इसलिए उनको पूरा करने के लिए धन-संग्रह की आवश्यकता पड़ती है। धन की प्राप्ति के लिए भी अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है और सारा जीवन इसी प्रयत्न में लगा रहता है, मरते समय तक इन भोगों के संग्रह मे ही व्यक्ति परेशान रहता है तथा किसी-किसी को तो इनके उपभोग का भी समय नहीं मिलता और पहले ही जीवन-यात्रा समाप्त हो जातीहै कुछ लोग तो धनोपार्जन को ही जीवन का उद्देश्य बनाकर उचित-अनुचित साधनों का भेद भी भूला बैठते हैं संसार के इतिहास में धन की लिप्सा के कारण जितनी हिंसाएँ, अनर्थ और

अत्याचार हुए हैं, उतने और किसी दूसरे कारण से नहीं हुए हैं ' अतः अर्थ को जीवन का सर्वोत्तम पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि अर्थ स्वयं अपने-आप में मूल्यवान् वस्तु नहीं है : धन तो विषय-भोगों और सुखों को प्राप्त करने का साधन-मात्र है ; फिर धन-संग्रह अर्थात् विषयों-भोगों की सामग्रियों को संचित करने में संघर्ष भी होता है तथा अनेक प्रकार के छल, कपट, झूठ, आदि दुर्व्यवहारों का सहारा लेना पड़ता है, जिसके कारण मन में बराबर और चेहरे पर विकृति बनी रहती है ; इतना ही नहीं, इससे संग्रह की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होता है और बराबर चोर, डाकू, सरकारी टैक्स,, दुश्मनों एवं संबंधियों से भय बना रहता है ; धन का अपहरण या नाश हो जाने पर कष्ट होता है ; इस प्रकार अर्थ अशांति, संघर्ष, दुःप्रवृत्ति, दुःख, रोग, भय, पाप आदि का मूल है। इन्हीं कारणों से धन को भी जीवन का सर्वोतम लक्ष्य या परम पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

'काम' और 'अर्थ' को जीवन का सर्वोतम लक्ष्य अस्वीकार करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि जीवन का और क्या लक्ष्य हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान हमें आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है : मनुष्य केवल भौतिक शरीर ही नहीं है, वह एक संवेदनशील, बौद्धिक, सामाजिक प्राणी है ; उसकी अनेक मानसिक क्रियाएँ हैं—जैसे इच्छाएँ, भावनाएँ, ज्ञान, प्रेम आदि—जिनकी जड़ें पदार्थ में नहीं पाई जा सकती हैं ; इतना ही नहीं, व्यक्ति समाज में रहता है, जिसके साथ उसे सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है । उसे अपने-आपको कुछ नियमों में आबद्ध करना पड़ता है, जिससे दूसरों को कष्ट न हो सके ; ऐसे नियमों को ही भारतीय दर्शन में धर्म की संज्ञा दी गई है ; धर्म वह नियम है, जिसका पालन करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहे, उन्नति के पथ पर अग्रसर हो तथा समाज का भी कल्याण हो और सब एक-दूसरे के साथ प्रेम एवं सहानुभूति रखें । 'धर्म वह है, जो समाज को अच्छी तरह से कायम रखता हो, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति और निःश्रेयस की सिद्धि हो ; विभिन्न धर्मशास्त्रों में साधारण एवं वर्णाश्रम धर्मों की चर्चा की गई है, जिनका पालन करने से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है ।

इतना होते हुए भी धर्म को परम पुरुषार्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता ; यद्यपि यह बात ठीक है कि इन नियमों के पालन से मनुष्य और समाज की उन्नति होती है तथा समाज में संतुलन एवं सुव्यवस्था बनी रहती है; फिर भी ये नियम स्वयं अपने-आप में साध्य नहीं हैं; किसी उद्देश्य की पूर्ति को ध्यान में रखकर इनका पालन किया जाता है । जिस प्रकार धन-भोगादि विभिन्न काम वस्तुओं की प्राप्ति के साधन हैं, उसी प्रकार धर्म के नियमों का पालन करने से जीवन में अभ्युदय

की प्राप्ति होती हैं ; जिस प्रकार विषयों-भोगों से उत्पन्न सुख क्षणिक एवं अंत में दुःखदायी होता है तथा इससे स्थायी संतुष्टि नहीं मिलती, ठीक उसी प्रकार धर्म के परिणाम-स्वरूप स्वर्गादि सुख भी पुण्य का क्षय हो जाने पर फिर दुःखदायी ही हो जाते हैं। उपनिषदों और गीता में इसका विस्तृत वर्णन है कि यज्ञादि कर्मों के पुण्यों के क्षीण होने पर फिर मनुष्य को पृथ्वी पर अन्य प्राणियों के समान जन्म लेना पड़ता है—"**क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति।**" इससे दुःखों की न तो आत्यन्तिक निवृत्ति होती है और न जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिलता है। इस संबंध में भारतीय चिन्तकों ने विशेष चिन्तन किया है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा वह क्या चाहता है और सांसारिक बन्धनों से उसे कैसे छुटकारा मिल सकता है ;

मनुष्य की अनेक कामनाएँ हैं—अमर होने की इच्छा, सर्वज्ञता की इच्छा सदा सुखी रहने, निस्सीम शक्तिशाली बनने, सभी वस्तुओं पर प्रभुत्व एवं सभी वस्तुओं के उपभोग की कामनाएँ आदि। भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया कि मनुष्य एक भौतिक शरीर-मात्र ही नहीं है, अपितु उसमें अनन्त शक्ति वाली सूक्ष्म आत्मा भी है, जो स्वरूपतः अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्दवाली है। आत्मा की अनेक अद्भुत शक्तियाँ हैं, जिनके संबंध में आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान के परामनोविज्ञान में अभी भी अनुसंधान किए जा रहे हैं। **पातञ्जल योगसूत्र** में भी मस्तिष्क की अद्भुत शक्तियों का उल्लेख है। आत्मा के इस अज्ञात स्वरूप की तुलना ब्रह्म या परमात्मा से भी की जाती है। आत्मा के इस अज्ञात स्वरूप को पहचानना ही ब्राह्मी स्थिति, निर्वाण या मुक्ति है। जब मनुष्य अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर उससे तादात्म्य संबंध स्थापित कर लेता है तब संसार की किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है और वह सभी दुःखों से परे हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को ही विभिन्न दर्शनों में जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, संत, अर्हत, बुद्ध आदि की संज्ञा दी जाती है। यदि मानव के इस स्वरूप के विश्लेषण को स्वीकार किया जाय तो सही मानना पड़ेगा कि जीवन का यही एकमात्र परम उद्देश्य, पुरुषार्थ या सर्वोत्तम मूल्य हो सकता है।

इसीलिए भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को जीवन का परम पुरुषार्थ स्वीकार किया है और इस अवस्था को प्राप्त करने में ही अपनी सारी शक्तियों को लगाने का परामर्श दिया है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर सब कुछ प्राप्त हो जाता है। ऐसे मुक्त पुरुष के लिए भोग, विलास, अतुल धन, सामग्री और यज्ञादि धार्मिक आचरण सब तुच्छ वस्तुएँ है। वह ब्रह्माण्ड का अधिकारी बन जाता है तथा ब्रह्म में ही एकाकार हो जाता है। यही सर्वोत्तम अंतिम स्थिति और परम

लक्ष्य या परम पुरुषार्थ है। फिर भी साधारण व्यक्तियों के लिए नैतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है। सांसारिक दृष्टि से इन नियमों का मूल्य है।

इस प्रकार भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार जीवन के ये ही चार परम पुरुषार्थ हैं। इनके सभी आवश्यक अंगों को ध्यान में रखते हुए संतुलित ढंग से इनके पालन पर बल दिया गया है। **महाभारत** में भी इन सभी मूल्यों के संतुलित सेवन पर ही बल दिया गया है और कहा गया है कि विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे उचित समय में धर्म, अर्थ और काम—तीनों का सेवन करें—

> **"धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर।**
> **विभज्यकाले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः॥"**

(महाभारत, वनपर्व ३३-४२)

इनमें से शुरू के तीन—धर्म, अर्थ और काम—जीवन के सापेक्ष मूल्य हैं और मोक्ष ही एक मात्र निरपेक्ष मूल्य या निःश्रेयस है।

**समीक्षा :**

भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार पुरुषार्थों की अभी जो चर्चा की गई है, वह मुख्यतः प्राचीन दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए ही है। इनके संबंध में आज के युग में पुनः विचार करना चाहिए तथा इस युग में जिन अतिरिक्त मूल्यों की आवश्यकता हो, उनका भी समावेश पुरुषार्थों में करना चाहिए। आज व्यक्ति इस जीवन के अतिरिक्त न परलोक की चिन्ता करता है और न मरने के बाद मुक्ति की। आज के मनुष्य की अर्थ और काम के अतिरिक्त और किसी चीज की ओर प्रवृत्ति ही नहीं है। यहाँ तक कि आधुनिक नैतिक चिन्तनधारा में भी आध्यात्मिक समस्याओं से अधिक सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर ही बल दिया जाता है। आधुनिक पाश्चात्य चिन्तनधारा में तो आचरण-सम्बन्धी समस्याओं को नैतिक समस्याओं से अलग ही कर दिया गया है

इन सब कारणों से वर्त्तमान में यह समस्या और प्रबल हो गई है और हमें पुनः विचार करना है कि इस युग में जीवन का उचित उद्देश्य क्या होना चाहिए

विचार करने पर ऐसा लगता है कि वर्त्तमान में मनुष्य का जीवन बड़ा जटिल हो गया है पूर्णतया सुखी जीवन, शान्ति, अस्तित्व-सुरक्षा और वैयक्तिक उत्थान के अतिरिक्त उसका संबंध समाज, राष्ट्र और दूसरे राष्ट्रों से भी बड़ा गहरा है। आज के व्यक्ति का जीवन केवल उसके व्यक्तिगत प्रयास से ही पूर्णतया सुखी नहीं रह सकता, बल्कि उसे अनेक दृष्टियों से दूसरों पर भी निर्भर रहना

पड़ता है। प्राचीन युग के समान आज भी मनुष्य का आत्म-केन्द्रित रहना बड़ा कठिन है। साधन भी आज ऐसे उपलब्ध हो गए हैं, जिनके द्वारा उसे दूसरों के ज्ञानविज्ञान, उन्नति और समस्याओं का भी पता चलता रहता है, जिससे उनमें प्रतिस्पर्धा की भावना जागृत होती रहती है। मनुष्य के सुखमय जीवन, शांति और सुरक्षा के प्रश्न प्राचीन जीवन की तुलना में अब और अधिक जटिल हो गए हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में हमें जीवन के लक्ष्यों या उद्देश्यों (पुरुषार्थों) के बारे में पुनः चिन्तन करना चाहिए, जो आधुनिक युग के व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए हों और जिनके पालन से जीवन पुर्णतया सुखी तथा संपन्न बन सके।

## (ii) मोक्ष-धारणा एवं मोक्ष-साधन :

### (क) मोक्ष-धारणा

मोक्ष की धारणा भारतीय नीतिशास्त्र की सर्वोच्च कल्पना है। भारतीय दर्शन एवं नीतिशास्त्र का पूरा इतिहास मोक्ष की धारणा के विकास में ही संलग्न है। भारतीय चिन्तकों ने शुरू से ही मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास किया है। यहाँ के चिन्तकों ने शुरू में ही यह अनुभव किया था कि हमारा यह सांसारिक जीवन दुःखों तथा मानवीय कमजोरियों से भरा-पड़ा है। इतना ही नहीं, जीवन कठिनाइयाँ और मृत्यु भी एक पूर्ण जीवन की प्राप्ति की ओर संकेत करती हैं। बुद्ध का यह कहना बहुत हद तक ठीक ही है कि सांसारिक जीवन दुःखों से भरा है। भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों ने इन्हीं दुःखो और कमजोरियों पर विजय प्राप्त करने के लिए मोक्ष की कल्पना की है।

भारतीय नीतिशास्त्र की मोक्ष-धारणा हमारे आध्यात्मिक जीवन के विभाजन की पराकाष्ठा है। भारतीय चिन्तकों ने मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणा इसी आध्यात्मिक जीवन की पूर्ति के लिए की गई है।

'मोक्ष' का शाब्दिक अर्थ होता है—छुटकारा होना। इसे विभिन्न शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है—'मुक्ति' 'अपवर्ग' 'निर्वाण' 'कैवल्य' आदि। यद्यपि सभी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि मुक्ति हमारे दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है तथापि मुक्ति के वास्तविक स्वरूप के संबंध में भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों में मतभेद है। सुविधा के लिये विभिन्न विचारों को निम्नांकित वर्गीकरण के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है—

१. भौतिकवादी विचारधारा—चार्वाक;

२. अभौतिकवादी विचारधारा :—

**क) भावात्मक धारणा**—वेदान्त, जैन
(i) सारूप्य—ईश्वर के साथ सरूपता की प्राप्ति—गीता
(ii) सामीप्य—ईश्वर के साथ सन्निकटता—मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य आदि
(iii) सालोक्य—ईश्वर के प्रकाशमय लोक में निवास (बैकुण्ठ)—रामानुज
(iv) सायुज्य—ईश्वर के साथ संयोग—अद्वैत-वेदान्त

**(ख) निषेधात्मक धारणा :**
(i) उच्छेदवाद या शून्यवाद—दुःख का नाश—माध्यमिक शून्यवाद
(ii) निरोधवाद—कष्ट-निरोध—न्याय-वैशेषिक, मीमांसक आदि

**(ग) तटस्थतावादी धारणा**—सांख्ययोग।

बौद्धधर्म के कुछ ग्रंथों तथा न्याय और मीमांसा-दर्शनों में कहीं-कहीं भावात्मक मोक्ष की धारणा के समर्थन में भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं।

चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय नीतिशास्त्रज्ञ मोक्ष को जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते है तथा इस अवस्था को सभी दुःखों के नाश एवं पुनर्जन्म के बंधन से छुटकारा की स्थिति स्वीकार करते है; जैसे—बौद्ध, न्याय-वैशषिक, सांख्य, अद्वैत-वेदान्त आदि। परन्तु कुछ विचारक मोक्ष को केवल दुःखों के नाश की अवस्था ही स्वीकार नहीं करते, बल्कि इस अवस्था को आनन्द की प्राप्ति की अवस्था भी स्वीकार करते, हैं; जैसे—जैन, वेदान्त आदि। रामानुज तो दुःख के नाश की अवस्था को आनन्द-प्राप्ति की अवस्था का प्रथम सोपान स्वीकार करते है।

भौतिकवादी विचारधारा के समर्थक चार्वाक का कहना है कि यदि मोक्ष का अर्थ आत्मा का शारीरिक बंधनों से मुक्त होना माना जाय तो यह संभव नहीं है; क्योंकि आत्मा नाम की सत्ता ही नहीं है मोक्ष का अर्थ यदि जीवन-काल में सभी दुःखों का अंत होना समझा जाय तब भी इस तरह का मोक्ष संभव नहीं है। दुःखों का अंत मृत्यु से ही संभव है। इसीलिए चार्वाक ने मृत्यु को ही मोक्ष स्वीकार किया है—**'मरणम् एवं अपवर्गः'**। मृत्यु ही मोक्ष है। चार्वाक को छोड़कर अन्य भारतीय दर्शन अभौतिकवादी विचारधारा को स्वीकार करते हैं, जिसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) **भावात्मक विचारधारा**—इस विचारधारा के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति से दुःखों का केवल अंत ही नहीं होता, बल्कि यह एक आध्यात्मिक आनन्द की भी अवस्था है। इस विचारधारा का समर्थन गीता, जैन तथा वेदान्त दर्शन करते हैं। मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था के संबंध में चार धारणाएँ हैं—(i) सारूप्य

अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य आकार और स्वरूप में ईश्वर के समान हो जाता है; (ii)सामीप्य अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति से मनुष्य ईश्वर की निकटता प्राप्त करता है—इसका समर्थन वल्लभ,निम्बार्क, मध्व आदि ने किया है; (iii) सालोक्य अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति से मनुष्य बैकुण्ठ लोक को प्राप्त कर ईश्वर के साथ-साथ रहने लगता है—रामानुज ने इसका समर्थन किया है; (iv) सायुज्य अर्थात् मुक्ति प्राप्त होने पर मनुष्य ईश्वर के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित कर लेता है; जैसा कि शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**।

(२) **निषेधात्मक विचारधारा**—इस विचारधारा के अनुसार मुक्ति केवल दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है, जैसा बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि मानते हैं। बुद्ध ने इसे राग-द्वेष तथा तज्जन्य दुःख के नाश की अवस्था कहा है। यह न तो निष्क्रिय अवस्था है और न अकर्मण्यता ही वास्तव में यह कर्मों के फल के नाश की अवस्था है। इस अवस्था को बौद्ध दर्शन में शून्यवाद या उच्छेदवाद भी कहा गया है।

न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शनों में मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। नैयायिकों के अनुसार यह दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की व्यवस्था है—**दुःखन आत्यन्तिक वियोगः'**। वैषिक दर्शन में भी आत्मा के नौ प्रकार के विशिष्ट गुणों (बुद्धि-ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, राग-द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि) के पूर्ण विनाश को मोक्ष कहा गया है (**नवानामात्मविशेष गुणानां अत्यन्तोच्छेदः मोक्षः**)।

(३) **तटस्थतावादी विचारधारा**—सांख्य-योगदर्शन में इस विचारधारा का समर्थन किया गया है। सांख्य के अनुसार तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) का पूर्णतः विनाश होना ही मोक्ष है। योगदर्शन भी आत्मदर्शन अर्थात् विभिन्न यौगिक अभ्यासों के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष मानता है।

इस प्रकार संपूर्ण भारतीय नीतिशास्त्र में मोक्ष के संबंध में मोटे तौर पर दो विचारधाराएँ हैं—मोक्ष दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था है तथा इसकी प्राप्ति से एक आध्यात्मिक आनंद की स्थिति प्राप्त होती है। कुछ लोग मुक्ति की प्राप्ति को जीवन-काल में ही प्राप्त मानते है; जैसे-जैसे, बौद्ध और वेदान्त के समर्थक। परन्तु कुछ विचारक मोक्ष की अवस्था को मृत्यु के बाद की अवस्था मानते हैं; जैसे न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि। इन दोनों ही विचारधाराओं को जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति के नाम से पुकारा जाता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय नीतिशास्त्र में व्यक्तिगत मुक्ति और सामूहिक मुक्ति (Individual and Collective liberation) के प्रश्न को लेकर

भी कुछ मतभेद है। अधिकांशत: प्राचीन विचारक (बौद्ध तथा शांकर वेदान्त को छोड़कर) व्यक्तिगत मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। परन्तु आधुनिक युग के विचारक इस विचारधारा का खंडन करते हैं और सामूहिक मुक्ति पर ही बल देते हैं। इस संबंध में महात्मा गांधी, टैगोर, श्री अरविन्द, डाँ० राधाकृष्णन तथा प्रो० इकबाल के विचार उल्लेखनीय हैं। लगभग सभी समकालीन विचारक सामूहिक मुक्ति में विश्वास करते हैं तथा कुछ लोग तो व्यक्तिगत मुक्ति को सामूहिक मुक्ति के अभाव में असंभव भी मानते हैं।

व्यक्तिगत मुक्ति की आलोचना करते हुए महात्मा गांधी ने कहा है कि जबकि मानवता भी अपूर्णता की अवस्था में है, किसी व्यक्ति के लिए पूर्णता प्राप्त करना असंभव है। जबतक मानवता में अपूर्णता, दुःख और अज्ञानता रहेगी तब-तक पूर्ण एवं दैवीं प्राणियों का प्रादुर्भाव होना असंभव है। इसीलिए गांधी जी ने सामाजिक उत्थान एवं पूर्ण मानवता के दैवीकरण पर ही बल दिया है।

श्री अरविन्द भी विश्व-विकासवाद (Cosmic Evolution) की चर्चा करते हुए कहते हैं कि प्रकृति और मनुष्य ईश्वर की एकता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। टैगोर भी इसी विचारधारा का समर्थन करते हैं। डाँ० राधाकृष्णन का भी विश्वास है कि पूरे विश्व की मुक्ति के पहले व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। इस विश्व में जबतक अपूर्णता, अज्ञान एवं दुःख की अधिकता है तथा वातावरण पूर्णत: पवित्र नहीं हो जाता है तब तक मानवता से पूर्ण एवं मुक्त व्यक्ति का उत्पन्न होना असंभव है। इसलिए उन्होंने भूलों को सुधारने तथा कुरूपता को समाप्त करने पर बल दिया है। केवल पूर्ण मानवता ही पूर्ण व्यक्ति को उत्पन्न कर सकती है। इस संबंध में वे पूर्ण आशावादी हैं कि एक समय आ सकता है जब सभी व्यक्ति ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त कर सके।[1]

---

1. "There must come a time when all individuals will become sons of God and be received into the glory of immortality when the world is redeemed the end of the plot is reached. Earth and heaven would be no more, the timeless and transcendent alone remains ...The end of time means the perfection of humanity, where the earth will be full of the knowledge of the spirit.,,

*Dr. S. Radhakrishnan's* **An Idealistic View of Life**
**pp. 245-46.**

**(ख) मोक्ष-साधनः**

मोक्ष की धारणा संबंधी वैचारिक विभिन्नता के समान ही मोक्ष की प्राप्ति के साधनों को लेकर भी भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों में मतभेद है; क्योंकि यह एकमात्र सैद्धान्तिक चर्चा ही नहीं है, इसका व्यावहारिक महत्त्व भी है। यह आध्यात्मिक स्वतंत्रता का सारभूत तत्त्व है, जिसके द्वारा हम सांसारिक दुःखों का पूर्ण विनाश एवं पुनर्जन्म के बंधनो से छुटकारा पा सकते हैं। इस तथ्य की वैज्ञानिक सत्यता के संबंध में अनेक अनुसंधान एवं प्रयोग परामनोविद्या में चल रहे हैं। भारतीय चिन्तकों ने विभिन्न मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक निर्माण एवं अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए हर एक के लिए उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल साधनों की चर्चा की है। सभी व्यक्ति समान प्रवृत्तिवाले नहीं होते हैं—कुछ व्यक्ति ज्ञानी होते हैं, कुछ कर्मठ होते हैं, कुछ धार्मिक एवं भक्त-प्रकृति के होते है। इसीलिए तीन प्रकार के मोक्ष के साधनों की चर्चा की गई है—ज्ञान-मार्ग, कर्म-मार्ग एवं भक्ति-मार्ग। ज्ञान-पिपासु के लिए ज्ञान-मार्ग, कर्मठ व्यक्तियों के ,लिए निष्कामकर्म का मार्ग और भक्त एवं धार्मिक प्रकृतिवालो के लिए भक्ति-मार्ग।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर जो कि मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार नहीं करता, भारतीय परम्परागत दर्शन में अनेक प्रकार के मोक्ष-साधनों की चर्चा पाई जाती है। बौद्ध दर्शन का अष्टांग मार्ग, जैन दर्शन की त्रिरत्न-कल्पना, न्याय-वैशेषिक का तत्वज्ञान; सांख्य का विवेक-ज्ञान, योग-दर्शन का अष्टांग योग तथा वेदान्त दर्शन का साधन-चतुष्टय इत्यादि प्रमुख हैं। इस अध्याय में केवल तीन प्रमुख साधनो—ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गों—की ही चर्चा की जाएगी, जिनके परस्पर संबंध को लेकर काफी विवाद है। कुछ अन्यान्य विचारक मोक्ष-प्राप्ति के निम्नोक्त छह साधनों का भी उल्लेख करते हैं—

(१) विवेक;
(२) शास्त्र;
(३) संयम;
(४) प्रवृत्ति;
(५) निवृत्ति;
(६) निष्काम कर्म।

ये सभी साधन एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक ही आदर्श अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग है तथा किसी-न-किसी रूप में पहले बताए गए तीन प्रमुख साधनों के अंतर्गत आ जाते हैं। इसलिए यहाँ पर तीन प्रमुख साधनों-ज्ञान-मार्ग भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग तथा इसके परस्पर संबंधों की ही चर्चा की जाएगी।

प्राचीन काल से ही भारतीय परंम्परा में योग के तीन साधन माने जाते हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। **भगवद्गीता** में भी इन्हीं तीन प्रकार के योगों की चर्चा की गई है—ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। स्वामी विवेकानन्द ने भी इनको स्वीकार करते हुए एक और 'राजयोग' की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन संतों ने हठयोग, कुण्डलिनी योग, सहजयोग, शब्दयोग आदि का भी उल्लेख किया है। हरिस्मरण और कीर्त्तन के द्वारा भी सिद्धि प्राप्त करने की चर्चा है। समकालीन युग में महात्मा गांधी ने सेवायोग और अनासक्ति योग का उपदेश दिया है। इतनी विभिन्नता के होते हुए भी दूसरों के मार्ग से मुग्ध होकर अपने मार्ग को छोडना अनुचित बतलाया गया है। **गीता** तथा **योगवासिष्ठ** में बताया गया है कि बिना मार्ग-परिवर्त्तन किए अपने मार्ग के अनुसार कर्म-संपादन से ही मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत; संसिद्धि लभते नर:। (गीता, १८।४५)। योगवासिष्ठ** में यह भी लिखा गया है कि जिस साधना से किसी की उन्नति होती हो उसके लिए वही ठीक हैं। सको छोड़ना न शोभा देता है न सुखकर है, न हितकर है और न शुभ फल देनेवाला है। (६।२;१३०।२)।

**ज्ञानयोग**—एक तत्त्व के अभ्यास को योगवासिष्ठ में ज्ञानयोग की संज्ञा दी गई है। भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान को अत्यावश्यक माना है। परमार्थ की बात की कौन कहें, लौकिक व्यवहारों में भी वही सफल होता है, जिसके अपने वातावरण का पूरा ज्ञान हो। यही कारण है कि यहाँ के अधिकांश चिन्तकों ने दु:खों से निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान को अनिवार्य बतलाया हैं। अज्ञान के कारण ही हम अपने स्वरूप को भूल-कर दुनिया के कामों में फँसे रहते हैं। यहाँ तक कि आत्मा और शरीर के अंतर को ही भूल जाते हैं और इसी कारण अनेक प्रकार के राग, द्वेष, कलह, पाप इत्यादि दुष्प्रवृतियों में फँसे रहते हैं। बौद्ध, जैन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त आदि दर्शनों में तत्त्वज्ञान को मुक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है तथा अविद्या को ही सभी दु:खों का मूल कारण बताया गया है। महात्मा बुद्ध ने तो अविद्या को ही सभी दु:खों का मूल कारण बताया है। शंकराचार्य भी सभी बंधनों का कारण अविद्या या माया को मानते हैं। अपने स्वरूप के वास्तविक ज्ञान से हमें पता चलता है कि आत्मा और ब्रह्म का एक ही स्वरूप है—**'जीवो ब्रह्मैव नायर:'** (जीव ब्रह्म ही हैं दूसरा नहीं )। शंकर के अनुसार जीवन का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति ही हैं जो कि ज्ञान के बिना संभव नहीं है— **ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:'** (ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती) **छान्दोग्योपनिषद्** में लिखा है कि आतमा को जाननेवाला शोक से पार हो अता है—**''तरति शोकमात्मवित''** (७।१।३)। **ब्रह्म** को जाननेवाला **ब्रह्म** ही होता

है—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।'** इस तरह का ज्ञान हो जाने पर ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने वाला संसार की वस्तुओं के प्रति उदासीन हो जाता है। उसे संसार मिथ्या एवं अनित्य मालूम पड़ने लगता है। ज्ञान-मार्ग के अनुसार आत्मज्ञान ही प्रयास है और ब्रह्म में विलय परम लक्ष्य है। उपनिषदों के अनुसार तो समस्त जगत् ही ब्रह्म है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** और सभी जीव ब्रह्म ही हैं—**जीवो ब्रह्मैव नापरः।** **'अयम् आत्मा ब्रह्म'**। उपनिषदों में बार-बार इसका उपदेश है कि **आत्मान विद्धि** अर्थात् आत्मा को जानो। अपने स्वरूप का विश्लेषण और निरीक्षण करके इस अजर, अमर, अविनाशी, सच्चिदानन्द-रूप आत्मतत्व को पहचानो—**"आत्मा वा अरे श्रोतव्यो द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"**

उपर्युक्त प्रकार से एकतत्व की साधना को ज्ञान-मार्ग कहा गया है। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। शंकर के अनुसार इसके अधिकारी सब नहीं हो सकते। वही इसका अधिकारी हो सकता है, जिसने अपने जीवन में साधन-चतुष्टय का अभ्यास कर लिया है। ये चार साधन हैं—

(i) नित्यानित्य वस्तु-विवेक (ii) इहामुत्रार्थ भोगवैराग्य, (iii) शमदमादि साधन सम्पत् और (iv) मुमुक्षुत्व। इनके अभ्यास से मन इतना पवित्र और सूक्ष्मभेदी हो जाता है कि वह आत्मचिन्तन तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। साधन चतुष्टय से संपन्न व्यक्ति ही ब्रह्मात्मैक्यज्ञान' को प्राप्त कर सकता है। शंकर के अनुसार सभी उपनिषदों, ब्रह्म-सूत्र तथा गीता का एकमात्र प्रयोजन इसी ज्ञान-मार्ग का उपदेश देना है। आत्मा को पूर्णतया जान लेने पर कुछ और करना शेष नहीं रह जाता। वह जीव-मुक्त हो जाता है। उसे दुःख, शोक, मोह और भय नहीं होता। वह परमानन्द में मग्न रहता है, सभी प्राणियों से समता का व्यवहार करता है तथा अनासक्त भाव से कर्म संपादन करता है। उसे किसी प्रकार का बंधन नहीं रहता। वह जीते-जीते भी निर्वाण प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही व्यक्ति को बौद्धधर्म में 'बोधिसत्व' और जैनधर्म में 'अर्हत्' कहा गया है।

**भक्तियोग**—व्यास के अनुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है—**"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।"**[1] श्री गर्गाचार्य के मत में भगवान की कथा आदि में अनुराग होना भी है—**"कथादिष्विति गर्गः।"**[2] शाण्डिल्य ऋषि के विचार में आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना ही भक्ति है—**"आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।"**[3] नारद के मत में सब कर्मों को भगवान के अर्पण

1 नारदभक्तिसूत्र, पृ० १६।
2, वही, पृ० १७।
3- वही पृ० १८।

करना और भगवान का थोड़ा-सा भी विस्मरण होने परम व्याकुल होना ही भक्ति है—"**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति** "[1]

गीता के अनुसार जब भक्त को यह ज्ञान हो जाय कि संसार में भगवान के सिवा कोई अविनाशी और सार वस्तु नहीं है, समस्त पदार्थ उसके ही रूप है और समस्त संसार का संचालन, नियमन और उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार उसी भगवान की इच्छा और शक्ति से हो रहा है, तब संसार की वस्तुओं से रुचि हटकर भगवान में उसकी भक्ति हो जाती है। इस प्रकार के आध्यात्मिक विश्वास के कारण भक्त का भगवान के ऊपर पूर्ण भरोसा हो जाता है और उसी को प्रसन्न करने के लिए वह संपूर्ण कर्म करता है। यहाँ तक कि उसको अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए किसी विशेष कर्त्तव्य की इच्छा नहीं होती। उसका जीवन ही मानो भगवान के लिए और भगवद्भक्ति में बीतता है। गीता में लिखा है कि जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त से स्थित हुआ, सदा मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए में सुलभ हूँ, अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ (८।१४)। 'परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास-रूप योग से युक्त अन्य तरफ न दिव्यपुरुष को, जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाश-स्वरूप अर्थात् परमेश्वर को ही प्राप्त होता है' (८।८)। भगवान की भक्ति करनेवाला अंत में भगवान को प्राप्त कर लेता है—'जो सब कर्म मेरे लिए करता है, जो मुझे ही परम लक्ष्य समझता है, जो विषयों में आसक्त नहीं है, **जो किसी भी प्राणी से वैर नहीं रखता,** ऐसा भक्त मुझे प्राप्त कर लेता है' (१५।१५)। यहाँ तक कि पूर्ण आस्थावान भक्त के लिए भगवान का आदेश है कि सब कर्त्तव्यों को छोड़कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा :

> **"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
> **अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"**
>
> **(गीता, १८।६६)**

इस प्रकार परमात्मा का अनन्य भक्ति से मनन, पूजन एवं पूर्ण आत्म-समर्पण ही भक्तियोग का संबल है। **नारदभक्तिसूत्र** में परमेश्वर से प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहा गया है—"**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।**"[2] **शाण्डिल्य-सूत्र** के अनुसार 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग का नाम भक्ति है। इस अनुराग या प्रेम से जीव अमृतत्व को प्राप्त करता है'। इस तरह भक्ति का अर्थ है भगवान के प्रति अनुराग। यह अनुराग स्नेह, प्रेम और श्रद्धा के रूप में व्यक्त होता है। मधुसूदन

---

1. वही, पृ0 १९।
2. **नारदभक्ति सूत्र** ।२।

सरस्वती के अनुसार भक्ति-मार्ग का मतलब है भगवान के प्रेम से द्रवित होकर उनके साथ सविकल्प तादात्म्य-भाव। प्राचीन ग्रंथों में भक्ति के तीन रूपों की चर्चा पाई जाती है—विधियुक्त भक्ति, रागात्मिका भक्ति और पराभक्ति। विधियुक्त भक्ति आरम्भ की अवस्था है, जिसमें श्रवण, मनन, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा अर्चना, दास्यभाव सख्यभाव आदि अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। इस तरह की भक्ति की अवस्था सगुण-भक्ति की अवस्था है। रागात्मिका भक्ति वह अवस्था है, जिसमें भक्त भगवान के ध्यान में मग्न होकर तन्मय हो जाय। **नारदभक्ति-सूत्र** में इस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि भक्त परमात्मा के ध्यान में तल्लीन हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। उसके हृदय में परमात्मा के सिवा और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। इसे न सांसारिक वस्तु में रुचि रहती है और न वह किसी लौकिक वस्तु को प्राप्त करने का ही यत्न करता है। वह परमात्मा की धुन में मस्त रहता है। इस तरह की भक्ति की पराकाष्ठा श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों में पाई जाती है (**"यथा व्रजगोपिकानाम्"**)। नारद के अनुसार भक्ति से मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। भक्ति हो जाने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषय-भोगों की प्राप्ति में उत्साह होता है—**"यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।"**[2] यहाँ पर निष्काम भक्ति को ही महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। यहाँ तक कि संसार से मुक्ति की कामना के लिए भी भक्ति-मार्ग को ही अपनाना चाहिए—**"तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः"**।[3] **नारदभक्तिसूत्र** में भक्ति के चार साधनों की चर्चा की गई है—विषय-त्याग और संगत्याग से संपन्न होना, अखंड भजन करना, लोक-समाज में भगवद्गुण-श्रवण और कीर्त्तन तथा महापुरुषों का संग। इनमें सबसे दुर्लभ, अगम्य और अमोघ महापुरुषों का संग ही है—**महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।"**[4] यहाँ तक कि भगवान और उनके भक्त में कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार भक्ति में भक्त अपने को भाव-समुद्र में इतना डुबा देता है कि अपना अस्तित्व भूलकर केवल अपने इष्टदेव भगवान के साथ तन्मय हो जाता है। यह पराभक्ति की अंतिम अवस्था है। इसमें सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति,

1. **नारदभक्तिसूत्र।२१।**
2. **नारदभक्तिसूत्र।५।**
3. **वही,।३३।**
4. **वही,।३६।**

ब्रह्मभावना और ब्रह्म की क्रिया होने लगती है। इस अवस्था में पहुँचने पर और कुछ करना शेष नहीं रहता। सभी अज्ञान समाप्त होकर केवल ब्रह्म का ज्ञान ही रह जाता है। सभी बंधनों से मुक्त होकर मनुष्य भगवदर्पण-भाव से कर्म करने लगता है और मुक्ति का अनुभव करने लगता है। गीता में इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'इस अवस्था में भक्त समस्त जगत् को अपने में, और अपने को समस्त जगत् में, और सब जगह सबको समान भाव से देखने लगता है। इस तरह की तादात्म्य-भक्ति के द्वारा भक्त अंत में सच्चिद्रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है। **मुण्डकोपनिषद्** में लिखा है कि इस प्रकार का अनुभवात्मक ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति नामरूप से विमुक्त होकर परम पुरुष ब्रह्म में इस प्रकार लीन हो जाता है, जैसे समुद्र की ओर जानेवाली नदियाँ अपने नाम-रूपों को त्याग कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं।

**कर्ममार्ग :**

पाश्चात्य विद्वानों का यह आरोप रहा है कि भारतीय दर्शन और नीति परलोकवादि एवं पलायनवादी है। हिन्दू धर्म एवं नैतिक चिन्तन का लौकिक जीवन में, जो दुःखों से भरा-पड़ा है, कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए व्यक्ति को इनकी प्राप्ति में व्यर्थ का समय बरबाद नहीं करना चाहिए; क्योंकि इनसे मोक्ष नामक जीवन का परम पुरुषार्थ कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु ये सभी आक्षेप हिन्दू धर्म एवं नीतिशास्त्र के उद्देश्य को गलत ढ़ंग से समझने के कारण किए गए हैं। **भगवद्गीता** द्वारा प्रतिपादित कर्ममार्ग इन आरोपों का करारा जवाब है।

क्रिया-प्रधान या कर्मठ व्यक्तियों के लिए भारतीय नीतिशास्त्र में कर्ममार्ग कि बड़ी विस्तृत चर्चा है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि के विचार में तो कर्ममार्ग का प्रतिपादन ही गीता का प्रमुख प्रयोजन है। गीता के अनुसार बिना फल की आशा किए निष्काम-भाव से कर्म-संपादन करने को ही कर्मयोग कहा गया है। प्रो० हिरियन्ना के अनुसार गीता द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग कर्म-त्याग का उपदेश नहीं देता, बल्कि कर्म-फल त्याग की शिक्षा देता है। गीता में बड़े विस्तार से यह बतलाया गया है कि सकाम भाव से या फल की प्राप्ति की आशा से किए गए कर्मों से ही बंधन होता है, जिस प्रकार कच्चा बीज ही जमीन में डालने से अंकुरित होता है, परन्तु भुना हुआ बीज डालने से नहीं, ठीक उसी प्रकार केवल फलासक्ति से किए गए कर्म ही बंधन उत्पन्न करते हैं, अनासक्त भाव से किए गए कर्म नहीं। प्रत्येक व्यक्ति जीवन-भर कुछ-न-कुछ कर्म करता ही रहता है और उनके फलों को भी भुगतता रहता है। कर्म करने में व्यक्ति को स्वतंत्रता

है, परन्तु कर्मों के फल को भोगने में वह परतंत्र है। चाहे हम शुभ करें या अशुभ, सभी कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं—**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम।**

तीन प्रकार के कर्म माने गए है—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। नित्य कर्म वे हैं, जिन्हें प्रतिदिन हमें जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। नैमित्तिक कर्म वे हैं, जिन पर विशेष अवसरों, अवस्थाओं या परिस्थितियों में करना पड़ता है। ये कर्म वैयक्तिक और सामाजिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस के लिए परम आवश्यक हैं। तीसरे प्रकार के काम्य कर्म वे है, जो किसी फल की कामना की पूर्ति के लिए किए जाते हैं। इन क्रियाओं के उचित-अनुचित फलों को भी भुगतना पड़ता है। यही कर्म वास्तव में हमें जीवन के बंधनों से बाँधते हैं। इसलिए कर्म-फल के नियम से छुटकारा पाने के लिए काम्य कर्मों का ही पूर्णतया परित्याग करना पड़ेगा। नित्य और नैमित्तिक कर्म के परित्याग की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इनके संपादन से हमारा चित्त शुद्ध होता है, बुद्धि निर्मल होती है और आत्मज्ञान में भी सहायता मिलती है। गीता मे इसे बड़े स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कर्मों को न करने से निष्कामता को प्राप्त नहीं किया जा सकता और न कर्मों को त्याग देने से सिद्धि ही प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण-मात्र भी कोई कर्म किए बिना नहीं रहता। नि;सन्देह सब लोग प्राकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश होकर कर्म करते हैं। यहाँ तक कि जो मूढ़-बुद्धि पुरुष हठपूर्वक कर्मेन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों के भोगों की मन में कल्पना करता हैं, वह मिथ्याचारी कहलाता है। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परामर्श दिया कि तुम उचित कर्मों को करो; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, और कर्म न करने से शरीर-धारण भी न हो सकेगा।[1] इस प्रकार योग-वासिष्ठ और गीता दोनों ही ग्रन्थों में यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कर्मों का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ मुनि ने श्रीरामचन्द्र को यही उपदेश दिया था कि 'कर्म ही पुरुष हैं और पुरूष ही कर्म है।' सोचना विचारना, अनुभव करना कल्पना करना, आदि सभी क्रियाएँ तो मानसिक ही हैं। इन क्रियाओं से बचकर हम कैसे रह सकते हैं ? इसीलिए गीता का कहना है कि मनुष्य का यह सोचना गलत है कि अमुक कर्म करने से हमको अमुक फल मिलेगा। फल देना तो भगवान के हाथ में है। किस कर्म का क्या और कब फल होगा, यह तो ईश्वराधीन है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तेरा अधिकार कर्म करने तक ही सीमित है, फल उत्पन्न करना तेरे हाथ में नहीं है। इसलिए बिना फल की आशा के भगवत्-समर्पण बुद्धि से तू कर्म किए जा—"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा

1. गीता, अध्याय ३।४,६८।

**फलेषु कदाचन ।**"[1] जब कर्म किए बिना जीवन में काम चल ही नहीं सकता— "**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**"[2]—तब कर्म का परित्याग करना बड़ी भूल और हठधर्मिता है। सभी कर्मों के करने से फल नहीं उत्पन्न होता। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि योग में स्थित होकर कर्म करो। योग से यहाँ तात्पर्य है कर्मों के करने में कुशलता— '**योगःकर्मसु कौशलम्**।'[3] कर्म का उद्देश्य क्या होना चाहिए, इसके सम्बन्ध में गीता का आदेश है कि लोक-संग्रह को ध्यान में रखते हुए कर्म करना चाहिए। अर्थात् अपने लिए नहीं, लोक-कल्याण या लोक व्यवस्था के उद्देश्य से कर्म करना उचित है। अनासक्त होकर (अपनी किसी कामना के बिना) किए हुए कर्म बन्धन को उत्पन्न नहीं करते। जिसके सब उद्योग कामना से रहित हैं, जिसने कर्म के फलों में कोई आसक्ति नहीं रखी, जो नित्य तृप्त है, अर्थात् जिसको कर्म से कुछ प्राप्त होने की इच्छा ही नहीं है, वह कर्मों में लगा हुआ भी कोई कर्म नहीं करता।[4] इस प्रकार अनासक्त भाव से लोक-संग्रह मात्र के लिए कर्म करता हुआ व्यक्ति अंत में परम-पद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ तक कि गीता में यह भी बतलाया गया है कि अगर उपर्युक्त प्रकार से कर्म करने में कठिनाई हो तो सब कर्मों को भगवान को समर्पित करके, उसको ही प्रसन्न करने के लिए कर्म करने से अंत में व्यक्ति परमपद प्राप्त कर सकता है। जो कर्मों के फल की इच्छा न करते हुए कर्म करता है और सब कर्म ब्रह्म को अर्पण कर देता है, वह पाप से वैसे ही बच जाता है जैसे कमल का पत्ता पानी से (अ० ५।१०)। इस तरह कर्म करनेवाला अव्यय और शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। (अ०१८।५६)

इस प्रकार गीता का निष्काम कर्मयोग भक्ति-मिश्रित है और सभी प्रकार की आसक्ति को त्याग कर भगवान के आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धि से शास्त्र-विहित कर्त्तव्य कर्मों का करना ही उसका प्रयोजन है। यहाँ तक कि गीता में कर्मयोग को ज्ञानयोग से भी श्रेष्ठ कहा गया है—

**संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।**
**तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ।।**[5]

कर्म-संन्यास और कर्मयोग-ये दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं, परन्तु इन दोनों में कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

---

1. गीता, अध्याय २।४७।
2. वही, अ० ३।५।
3. गीता, अ० २।५० ।
4. वही, अ० ४।१९, २१ ।
5. वही, अ० ५।२ ।

कर्म-मार्ग की ज्ञान-मार्ग या संन्यास-मार्ग की अपेक्षा एक और विशेषता है कि जहाँ संन्यास-मार्ग व्यक्तिगत मुक्ति पर जोर देता है, वहाँ कर्म-मार्ग सामूहिक मुक्ति का साधन है इसीलिए इसके समर्थकों का कहना है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद मनुष्य के अपने कल्याण के लिए कोई भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसके विपरीत यद्यपि कर्मयोगी के लिए अपनी स्वार्थ-पूर्ति के हेतु कुछ भी कर्त्तव्य नहीं हैं, फिर भी लोक-कल्याण के लिए वह सारे सांसारिक कर्म करता रहता है। उसके प्रबल समर्थक श्रीकृष्ण, जनक आदि बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी भी लोक-कल्याण के लिए सदा सांसारिक कर्म करते रहे।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार निष्काम-भाव से किया गया दुनिया का प्रत्येक कर्म पवित्र है और कर्त्तव्यनिष्ठा भगवत्पूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है, बुद्ध जीवों की भ्रांत, अज्ञान-तिमिराच्छन्न आत्माओं को ज्ञान और मुक्ति दिलाने में यह कर्त्तव्यनिष्ठा निश्चय ही बड़ी सहायक है। निष्काम कर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि आजकल बहुत-से लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि कर्म इस प्रकार किया जाय जिससे मन को न हर्ष हो; न विषाद। यदि यही निष्काम कर्म का सच्चा अर्थ हो तब तो पशुओं को निष्काम कर्मी कहा जा सकता है। कुछ पशु अपने बच्चों को ही निगलजाते हैं, और ऐसाकरनेमें उन्हें कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं होता। डाकू अन्य लोगों का सब माल असबाब छीनकर उनका सर्वनाश कर देते हैं। यदि वे पर्याप्त कठोर होकर दुःख-सुख की परवाह न करें, तो क्या उन्हें भी निष्काम कर्मी मानना पड़ेगा? यदि निष्काम कर्म का अर्थ ऐसा ही हो तब क्रूर, पाषाण-हृदय और नीचतम अपराधी को भी निष्काम कर्मियों में गिना जा सकता है। इसलिए निष्काम कर्म का यदि यहीअ र्थ हो, तब तो हम कहेंगे कि गीता में एक बहुत बड़े भयानक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह अर्थ नहीं हो सकता। गीता कर्मयोग की शिक्षा देती हैं। हमें योग (एकाग्रता) के द्वारा कर्म करना चाहिए। जब कर्मयोग में इस प्रकार को एकाग्रता आ जाती है तब क्षुद्र अहं-भाव का लेश-मात्र भी अस्तित्व नहीं रह जाता। जो अपना क्षुद्र अहं-भाव भूलकर कार्य करते हैं, उनपर उन दोषों का प्रभाव नही पड़ता; क्योंकि वे संसार की भलाई के लिए कर्मकरते हैं। निष्काम और अनासक्त होकर कार्य करने में हम परम आनंद और मुक्ति की प्राप्ति होती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

**ज्ञान, भक्ति और कर्ममार्गों की तुलनात्मक समीक्षा:**

भारतीय नीतिशास्त्र में यह प्रश्न बड़े महत्व का रहा है कि क्या इन विभिन्न मार्गों में से केवल कोई एक मार्ग ही मुक्ति की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है या इन

सभी मार्गों का परस्पर सहयोग आवश्यक है ? इस प्रश्न को लेकर यहाँ बड़ा विवाद रहा है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए हम किस मार्ग को अपनाएँ। क्या कोई एक मार्ग सर्वश्रेष्ठ है और अन्य इसके सहायक हैं ? क्या सभी मार्गों का समन्वय होना चाहिए ? इसको समुच्चयवाद (Doctrine of Co-ordination) कहते हैं। एतद्संबंधी प्रश्नों का इस प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है:

(१) क्या तीनों मार्ग स्वतंत्र रूप से मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं ?

(२) क्या इनमें से एक प्रमुख है और अन्य दो मोक्ष की प्राप्ति में आरंभिक सहायक हैं तथा परिपक्वता प्राप्ति के बाद समाप्त हो जाते हैं ?

(३) क्या एक मार्ग दो मार्गों का सहायक है ?

(४) क्या तीनों मार्ग एक-दूसरे के पूरक हैं?

(५) क्या तीनों मार्ग परस्पर विरोधी हैं ?

प्रथम विकल्प का तात्पर्य होगा—(i) केवल कर्म, (ii) केवल ज्ञान, (iii) या केवल भक्ति के अनुसरण से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। इसी प्रकार दूसरे विकल्प का तात्पर्य होगा कि (i) कर्म प्रमुख है तथा ज्ञान और भक्ति आरंभिक या सहायक है, (ii) ज्ञान प्रमुख है और भक्ति तथा कर्म मात्र सहायक है, या (iii) भक्ति प्रमुख है और अन्य दो मत-सहायक हैं। तीसरे विकल्प में भी विभिन्न प्रकार के संयोग हो सकते हैं; जैसे—(१) ज्ञान और कर्म, (२) कर्म और ज्ञान, (३) ज्ञान और भक्ति। समुच्चयवादी चौथे विकल्प को स्वीकार और पाँचवें को अस्वीकार करते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति के अभाव में केवल कर्म व्यर्थ है। इसीलिए इस प्रकार के विकल्प को कि मात्र कर्म-मार्ग, भक्तिमार्ग, या ज्ञान-मार्ग पर्याप्त है स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विभिन्न भारतीय नीतिशास्त्रों में सांख्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए 'केवल ज्ञान' को आवश्यक माना गया है। वहाँ ज्ञान का अर्थ है 'पुरुष को प्रकृति के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान' जिसे सांख्यदर्शन में 'विवेकख्याति' कहा गया है। इसके द्वारा पुरुष का प्रकृति के प्रति राग या मोह का विनाश हो जाता है और इसी के द्वारा पुरुष को स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है। इसके अनुसार कर्म से मोक्ष की प्राप्ति में कोई सहायता नहीं मिल सकती। न तो वेद-विहित कर्म और न वर्ण के अनुसार निर्धारित कर्म इस मार्ग के लिए सहायक हैं। विज्ञान भिक्षु का तो यहाँ तक कहना है कि उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के कर्म अपवित्र और विनाशी हैं—"दृष्टिवतानुश्रविक सह हि क्षयातिबया युक्तः"। इसलिए इन कर्मों से न तो विशुद्ध और अमिश्रित संतोष ही प्राप्त हो सकता है और न कोई चिरंतन लाभ ही प्राप्त हो सकता है। यही बात काम्य और अकाम्य कर्त्तव्यों के लिए भी सही है। विज्ञान भिक्षु लिखते हैं—

**काम्ये अकाम्येऽपि साध्यत्वा विशेषात्**" । फिर भी पतंजलि के सांख्यदर्शन में कुछ कर्मों को (जैसे यम और नियम) करना शुद्धि के लिए आवश्यक स्वीकार किया गया है, कुछ शारीरिक मुद्राओं (आसनों) को भी योगाभ्यास में सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है । इस प्रकार पतंजलि के अनुसार कर्मों का त्याग सर्वथा उचित नहीं है । बल्कि सात्विक कर्मों का (जो कि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं) अनिवार्य रूप से पालन होना चाहिए ।

**शंकराचार्य** भी (जो ज्ञान-मार्ग को मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार करते हैं) मस्तिष्क और चित्तशुद्धि के लिए कुछ मात्रा में कर्म की उपयोगिता को मानते हैं । परन्तु उनके अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में कर्म की नितान्त आवश्यकता नहीं है । उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि मनुष्य विशुद्ध ज्ञान लेकर उत्पन्न हो सकता है । तथा कर्म किए बिना भी स्वतंत्र रूप से मोक्ष प्राप्त कर सकता है । ऐसी परिस्थिति में कर्म-मार्ग के अनुसरण की कोई आवश्यकता नहीं रहती तथा कर्म अभाव में भी, ब्रह्म के ज्ञान से, मुक्ति प्राप्त हो सकती है । ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होते ही सभी परिस्थितियों में कर्म समाप्त हो जाते हैं ।

न्याय-वैशेषिक तथा **रामानुज** के नैतिक विचारों में क्रमशः ज्ञान और भक्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया है । नैयायिकों का मत है कि ज्ञान प्राप्त हो जाने पर निष्काम-भाव से धार्मिक कृत्यों को करते रहना चाहिए । ऐसे कर्म मनुष्य की निष्कामता एवं निस्तब्धता की क्षमता प्रदान कराते हुए ज्ञान की वृद्धि में सहायक होते हैं । न्याय-वैशेषिक के अनुसार ऐसा निष्काम-भाव सांसारिक वस्तुओं की क्षण-भंगुरता के ज्ञान के कारण उत्पन्न होता है और फलस्वरूप आत्मा को स्वतंत्रता प्राप्त होती है । रामानुज के अनुसार निष्कामता ईश्वरीय ज्ञान मे सहायक है । वह भक्ति और प्रेम की निष्पत्ति के द्वारा वैयक्तिक स्वेच्छा को भगवान की इच्छा में आत्मसात् कराते हुए मोक्ष की प्राप्ति कराती है ।

इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध ने भी सभी सांसारिक जीवन के दुःखों का मूल कारण अज्ञान को स्वीकार किया है । सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर ही सभी दुखो एवं आवागमन के बंधनो से मुक्ति मिल सकती है ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म-मार्ग की क्षमता का विभिन्न भारतीय दार्शनिकों एवं नीतिशास्त्रज्ञों ने विस्तृत रूप से वर्णन किया है । संबंध में वेदान्त-सूत्र पर लिखी गई शंकर-भाष्य की **भामतीटीका** का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें कर्म-संबंधी चार विचारधाराओं का वर्णन है ।

(१) पहली विचारधारा के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति में कर्मो संपादन की केवल निषेधात्मक महत्ता है । मोक्ष की प्राप्ति में बाधक पाप के दोषों को निष्काम-

भाव से किया गया धार्मिक कृत्य नष्ट कर देता है। ज्ञान एवं योगाभ्यास के द्वारा इस पाप के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(२) दूसरी विचारधारा के अनुसार कर्म का केवल निषेधात्मक महत्व ही नहीं हैं अपितु यह भावात्मक रूप में सहायक है। लोकमान्य तिलक ने तो यहाँ तक कहा था कि हिन्दू-नीतिशास्त्र का उद्देश्य है कर्ममार्ग का प्रतिपादन। ज्ञान, भक्ति और कर्म एक-दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते।

(३) तीसरी विचारधारा के अनुसार कर्म की महत्ता के मार्ग में आनेवाले ऋणों को चुकाने में है। भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा के अनुसार इस जीवन में हर एक व्यक्ति को तीन प्रकार के ऋणों को चुकाना अनिवार्य है—देवऋण, पितृ-ऋण और ऋषिऋण। ये सभी ऋण बंधनों के साधन हैं और कर्ममार्ग की महत्ता इसी में है कि इन ऋणों को चुकाते हुए मुक्ति की प्राप्ति कराएँ।

(४) चौथी विचारधारा के अनुसार केवल निष्काम-भाव से किए गए धार्मिक कृत्य ही मोक्ष के लिए अत्यधिक नहीं हैं, अपितु व्यावहारिक जीवन के लिए अपेक्षित कुछ वैध कर्मों को भी करना आवश्यक है। यद्यपि यह सही है कि ये कर्म व्यावहारिक लक्ष्यों को छोड़कर किसी दूसरे लक्ष्य को नहीं प्रदान कराते हैं, फिर भी मोक्ष-मार्ग के लिए ये लाभप्रद हैं; क्योंकि इनसे समाधि में सहायता मिलती है, जो अंततोगत्वा मोक्ष प्राप्त कराती हैं।

इस प्रकार कुछ विचारक निष्काम धार्मिक कृत्यों को और कुछ काम्य कर्मों को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। यह ध्यान देने की बात हैं कि इस विचार-धारा में ज्ञान और कर्म, दोनों की समान महत्ता नहीं स्वीकार की गयी है जैसाकि हम समुच्चयवाद (Doctrine of Co-ordination) में पाते है। समुच्चयवाद के अनुसार ज्ञान, भक्ति और कर्म—सभी समान रूप से मोक्ष के साधक हैं, जबकि उपर्युक्त विचारधारा में कर्म को अन्य साधनों से महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से मुक्ति। समुच्चयवाद में ज्ञान और कर्म समान रूप से मोक्ष के साधन हैं। उपर्युक्त विचारधारा का शंकर के नीतिशास्त्र से भी कुछ मतभेद है; क्योंकि उनके अनुसार हरएक परिस्थिति में कर्म अनिवार्य नहीं है। यद्यपि आत्मशुद्धि के लिए कुछ कर्म किए जा सकते है तथा-पि इनके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति में केवल सहायता ही प्राप्त हो सकती है। ज्ञान मुक्ति के लिए अनिवार्य है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' शंकर के नीतिशास्त्र में तो ज्ञान की प्राप्ति होते ही कर्म अनिवार्य रूपसे समाप्त हो जाते हैं। वेदान्त की परिभाषा में इस बात का उल्लेख है कि कर्म की, परोक्ष रूप से शुद्धि या आत्मा में वर्त्तमान पाप के दोषों को समाप्त करने के लिए अपेक्षा होती है। इस आत्म-विशुद्धि के

विना चरम सत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता, जो मोक्ष के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार कर्म मोक्ष की प्राप्ति का परोक्ष कारण है—

"तच्च ज्ञानं पाप क्षयात् भवति, स कर्मानुष्ठानात्,
इति परंपरया कर्मणोपि विनियोगः।"

अतः यह कहा जा सकता है कि वेदान्त की परिभाषा के अनुसार कर्म अनिवार्य है, वैकल्पिक नहीं, जैसा शंकर का विचार है।

यामुनाचार्य ने अपनी पुस्तक **सिद्धित्रय** में मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में—कर्मयोग, ज्ञानयोग, अन्यत्रयोग, ज्ञानकर्म-समन्वित योग और भक्तियोग को स्वीकार किया है।

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए विभिन्न मार्गों को चुनने में ही स्वतंत्र नहीं है; अपितु अपने जीवन का आदर्श निश्चित करने की भी उसे स्वतंत्रता है कि वह स्वर्ग को (सुखों का धाम) या मोक्ष (त्रिविध दुःख एवं बंधनों से छुटकारा) को अपनावे इनके अनुसार मोक्ष की प्राप्ति में ज्ञान प्रमुख है तथा कर्म सहायक है। किसी-न किसी रूप में मोक्ष का प्राप्ति में ज्ञान और कर्म की आवश्यकता है। परन्तु इनके अनुसार स्वर्गीय सुख की प्राप्ति के लिए कर्म की प्रमुख आवश्यकता है। आत्मज्ञान कार्यों के उचित संपादन में सहायक मात्र होता है। इसके, विपरीत वेदान्त-मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान की प्रमुखता रहती है तथा निष्काम कर्मों का संपादन आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक-मात्र होता हैं।

**मोक्ष-धारणा की आलोचना :**

भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष-धारणा के प्रायोगिक पक्षों को ध्यान में रखते हुए कुछ आलोचक यह संदेह प्रकट करते हैं कि मोक्ष स्वरूपतः एक अप्राप्य एवं काल्पनिक आदर्श है। **न्यायमंजरी** में उपर्युक्त आलोचना का बड़ा ही सुन्दर प्रत्युत्तर दिया गया है तथा इस विषय की विस्तृत चर्चा की गई है कि आलोचकों का आपेक्ष लौकिक जीवन में बाहरी एवं तुच्छ विचारधारा पर आधारित है। यहाँ हम **न्यायमंजरी** के कुछ प्रस्तुत करेंगे।

आलोचकों की धारणा है कि मोक्ष एक व्यावहारिक कल्पना-मात्र (Pragmatic fiction) है। उनके विचार में यह वैयक्तिक रचना (Subjective construction) है, जिसके द्वाराकेवल दुःख एवं शोक तथा उत्सुकता एवं कठिनाई के क्षणों में सांत्वना-मात्र मिलती है। इतना ही नहीं, यह आदर्श व्यावहारिक एवं सांसारिक जीवन के क्रिया-कलाप के लिए व्यर्थ और हानिप्रद भी है। इन लोगों के विचार में संसार या जीवन-चक्र से स्वतंत्रता के अर्थ में मुक्ति की संभावना नहीं

हैं और इस प्रकार मोक्ष नामक पुरुषार्थ की कल्पना व्यर्थ है। जो व्यक्ति मोक्ष की धारणा से विमोहित हो जाते हैं, वे भूल जाते हैं कि जीवन के साथ कुछ कर्त्तव्यों का अनिवार्य संबंध है, जिनसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता।

जीवन के कुछ आवश्यक कर्त्तव्य हैं (जिन्हें अनुबंध भी कहा गया है), जिनका संपादन करना अनिवार्य है। ये तीन हैं—

(१) सर्वप्रथम जीवन के कुछ आवश्यक ऋण हैं, जैसे पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण;

(२) जीवन के अवश्यम्भावी क्लेश तथा

(३) कर्म-फल का नियम।

जन्म-ग्रहण करने के समय से ही हर एक व्यक्ति के लिए कुछ ऋणों को चुकाना अनिवार्य हो जाता है, जिनको चुकाए बिना आवागमन से मुक्ति नहीं मिल सकती। ऋषिऋण अर्थात् ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए वेदादि धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है। उसी प्रकार पितृऋण चुकाने का मतलब है मानव-संतति को वर्त्तमान रखने के लिए संतानोत्पत्ति करना कर्त्तव्य है। देवऋण से तात्पर्य है वेद-विहित यज्ञादि का समुचित रीति से संपादन। इस प्रकार इन सभी आवश्यक ऋणों के चुकाने में ही जीवन का पूरा समय व्यस्त रहेगा, फिर मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहाँ समय मिल सकेगा?

दूसरी बात है कि जीवन में सुखों के साथ ही दुःखों का आवश्यक रूप से संबंध लगा रहता है। इनकी उपस्थिति हमारी भूलों का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है। ये दोष हमारे व्यावहारिक जीवन की जड़ में प्रविष्ट हैं। सभी प्रकार के दुःख संसार में जन्म लेने और व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से उत्पन्न दोषों के आवश्यक क्रमिक परिणाम हैं। इन दुःखों, भूलों और दुष्प्रवृत्तियों का कभी विनाश नहीं हो सकता; क्योंकि संसार में जन्म लेने के साथ ही ये प्रवृत्तियाँ और चित्तवृत्तियाँ आत्मा में निहित हैं और बाहरी जगत की वस्तुएँ या विषय इनको उत्तेजित करते रहते हैं। वास्तव में इन पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी गलती होने की संभावना रह सकती है। यह सर्वविदित है कि बड़े-बड़े महात्माओं और ऋषियों की भी प्रवृत्तियाँ कभी-कभी बाहरी वस्तु की प्रबल उत्तेजनाओं के वशीभूत हो गई हैं। इस कारण दुःखों से जो हमारे मन में निहित प्रवृत्तियों के स्वाभाविक परिणाम हैं, वास्तविक रूप में मुक्त होने की कोई संभावना नहीं है।

तीसरी बात है कि इस संसार में कर्म-फल-नियम, धर्म-अधर्म, जन्म-मरण का ऐसा चक्र है, जिससे बच निकलना बड़ा मुश्किल है। जन्म से कर्म (धर्म-

परायणता, अधार्मिकता आदि) उत्पन्न होता है। कर्म से पाप-पुण्य और पाप-पुण्य से पुनः नवीन जन्म, कर्म आदि का चक्र चलता रहता है। यह कर्म-फल-चक्र बिना समाप्ति के सदा चलता रहता है। हमारे कर्मों का तदनुकूल परिणाम उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। कोई भी ऐसा कर्म नहीं, जिसका फल न भुगतना पड़े। इस प्रकार कर्म-फल और कर्म-संपादन में कार्य-कारण संबंध है और यह नियम कर्ता के अज्ञान या ज्ञान से स्वतंत्र है। कर्मवाद के नियम के अनुसार विवेक या ज्ञान रहने पर भी न तो कर्म-फल के कुचक्र से ही बचा जा सकता है और न पुनर्जन्म तथा कर्मों के संग्रह से ही। यह कुचक्र अपरिवर्त्तनशील सुनिश्चित नियम के अनुसार चलता रहता है। अतः जिस प्रकार दुःख एवं जीवन के ऋणों से नहीं बचा जा सकता, उसी प्रकार कर्म-फल से भी मुक्ति नहीं हो सकती है।

आलोचकों का यह भी आरोप है कि भारतीय नीतिशास्त्र में यह परंपरा-सी बन गई है कि चार प्रकार के पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—में अतर किया जाता है। यह भी परंपरा है कि धार्मिक और भौतिक उपलब्धियों (जो परोक्ष लक्ष्य हैं) तथा मोक्ष (प्रत्यक्ष लक्ष्य है) के बीच अंतर किया जाय। यहाँ तक कि निरपेक्ष मूल्यों तथा सापेक्ष मूल्यो (धार्मिकता या सुख-समृद्धि) में भी अन्तर किया जाता है परन्तु ये सभी विवाद भी आपेक्ष से परे नहीं हैं। आलोचकों की राय में मोक्ष नामक कोई वास्तविक आदर्श है ही नहीं; क्योंकि इसका वास्तविक जीवन में कभी भी अनुभव नहीं किया जा सकता है। इनकी दृष्टि में तो उचित रास्ता यही है कि बिना किसी काल्पनिक स्वतंत्रता की परवाह किए अन्य तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम—को ही प्राप्त करने का प्रयास किया जाय। इस प्रकार जब जीवन में स्वतंत्रता संभव ही नहीं है तब व्यक्ति को इस व्यावहारिक जीवन में मोक्ष प्राप्त करने के सभी विचारों का परित्याग कर जीवन को यथासंभव सुखमय बनाने की आशा में उचित ढंग से व्यवस्थित करने की चिन्ता करनी चाहिए—

"मोक्ष चर्चा परित्यज्य स्वे गृहे सुखमास्यताम् ।"

न्यायमंजरी में मोक्ष-धारणा की उपर्युक्त आलोचना का समुचित उत्तर भी दिया गया है। न्यायमंजरी के अनुसार उपर्युक्त आक्षेप मुख्यतः तीन मान्यताओं पर आधारित हैं—

(१) ऋणों से छुटकारा असंभव है;

(२) जीवन में क्लेश अवश्यम्भावी है, और

(३) कर्म-फल का नियम अकाट्य है।

परन्तु जहाँ तक ऋण [ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण] चुकाने का
संबंध है, यह तो उपमा-मात्र है। इन ऋणों के चुकाने की कोई संविदा (Con-
tract) नहीं है, इसलिए इनके प्रति कोई उत्तरदायित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।
रूसो ने ठीक ही कहा था कि मनुष्य तो स्वतंत्र रूप से बिना किसी बंधन या
ऋण के जन्म लेता है, परन्तु दुनिया में अपने को वह बंधनों में पाता है (Man is
born free but he finds himself everywhere in chains)। एक छोटा-सा
बालक जब जन्म लेता है तब उस पर कोई ऋण नहीं होता। ऋण चुकाने की
बात तो अपने को अनुशासित करने के लिए है और केवल उन्हीं लोगों के लिए
ठीक है, जो संसार के दोषों से मुक्त नहीं (अपरिपक्व कषाय) हैं। परन्तु जो जीवन
में विशुद्ध (परिपक्व कषाय) हो गए हैं, उनसे न तो कोई ऋण चुकाने की अपेक्षा
की जाती है और न कोई आश्रम-कर्म ही अपूर्ण रह जाता है। ऐसे विशुद्ध व्यक्ति सीधे ब्रह्म
चर्य-आश्रम से परिव्राजक या संन्यास आश्रम में प्रवेश कर जाते हैं, बीच के गृहस्थाश्रम
में जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है; जैसे शंकराचार्य और स्वामी विवेकानन्द,
हाँ; यह सर्वसाधारण के लिए नहीं है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही ऐसा होता
है, कुछ लोगों की धारणा यह भी है कि गृहस्थाश्रम हो से बिना वानप्रस्थ और
संन्यास-आश्रम में गए मुक्ति हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक
विकास में क्रमबद्धता या नियमितता की बात केवल अपरिपक्व एवं सामान्य
व्यक्तियों के लिए है न कि परिपक्व एवं विलक्षण प्रतिभावान् के लिए। इसीलिए
यह मानना कि ऋणों को चुकाते रहने पर मोक्ष के लिए अवसर नहीं मिल सकता
या ऋणों को बिना चुकाए बंधन से मुक्ति नहीं मिल सकती, एक भ्रांत धारणा है।

ठीक उसी प्रकार यह धारणा भी गलत है कि 'क्लेशानुबंध' या दुःखों की
शृंखला से मुक्त होना संभव नहीं है। विवेक से या ज्ञान के उत्पन्न हो जाने से
(विवेकख्याति, सम्यक् ज्ञान, जरामरण-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान से) शीघ्र ही संसार के प्रति
मिथ्याज्ञान समाप्त हो जाता है। विवेक द्वारा जब सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता
का ज्ञान हो जाता है तब उनसे उत्पन्न होने वाला दुःख भी समाप्त हो जाता है, तब
हमें वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान होता है, सभी दुःखों का मूल कारण अज्ञान, मिथ्या-
ज्ञान या मोह ही है। बौद्ध सांख्य और वेदान्त दर्शनों में इस बात का विस्तृत वर्णन
है कि अज्ञान ही हमारे सभी दुःखों का कारण है। तत्व-ज्ञान मुक्ति का साधक है
और मिथ्याज्ञान बंधन का मूल कारण हैं। न्याय-दर्शन में तो यहाँ तक कहा गया
है कि वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही मुक्ति है।

इतना ही नहीं, कर्म-फल का सिद्धान्त भी अज्ञान पर ही आधारित है।
सभी प्रकार के कर्मों के संपादन से फल उत्पन्न हो ही, यह आवश्यक नहीं है। केवल

उन्हीं कर्मों का फल भुगतना पड़ता है (और आवागमन के दुश्चक्र में मनुष्य फँसता है) जो फल-प्राप्ति को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। कामनायुक्त कर्म-संपादन से ही मनुष्य सांसारिक बंधनों में फँसता है। जो कर्म निष्काम-भाव से बिना फल की आशा से संपादित किए जाते हैं, उनके फल से बंधन नहीं होता। ठीक उसी प्रकार जैसे भुने हुए बीज को जमीन में डालने से पौधा नहीं उत्पन्न होसकता। यहीं कारण है कि मुक्त पुरुष कर्म-संपादन से भी फल से संबंधित नहीं होता; क्योंकि वह कामना रहित होकर कार्य करता है। इस प्रकार कर्म-फल का नियम तभी तक ठीक है जबतक कर्म सकाम-भाव से या फल की आशा से किए जाते हैं। तत्त्वज्ञान हो जाने पर निष्काम-भाव से कर्म-संपादन करनेवाले के लिए कर्मफल का नियम निरर्थक है।

इन्हीं सब कारणों से **न्यायमंजरी** में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मोक्ष की अव्यावहारिकता एवं काल्पनिकता पर आधारित जितने भी आक्षेप हैं, वे सभी निराधार हैं। मोक्ष एक परम पुरुषार्थ है, जिसे तत्त्वज्ञान से, सतत निष्काम कर्म-संपादन से और कुछ लोगों (तथा रामानुज) की राय में अटूट भक्ति से इसी जीवन में या मरणोपरान्त प्राप्त किया जा सकता है।

६

# आधुनिक भारतीय नैतिक चिन्तन

(क) स्वामी विवेकानंद;

(ख) श्री अरविन्द;

(ग) महात्मा गांधी;

(घ) आचार्य विनोबा भावे का साम्ययोग;

(ङ) श्री मानवेन्द्रनाथ राय;

(च) डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्।

"धर्म की अपेक्षा इसीलिए है कि उसमें पाप से छुटकारा पाने का आश्वासन मिलता है।"

—विनोबा: साम्ययोग, पृ० २७।

## समकालीन भारतीय नैतिक चिन्तन

समकालीन भारतीय नैतिक चिन्तनधारा का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के विचारकों (जैसे श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और आचार्य विनोबा भावे) से होता है फिर भी, १९ वीं शताब्दी के धर्म-सुधारकों के विचार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन धर्म-सुधारकों ने भारतीय नैतिक चिन्तनधारा के विकास—विशेषकर हिन्दुत्व की रक्षा—में बड़ा सक्रिय योगदान किया है। इन धर्म-सुधारकों में राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस,स्वामी विवेकानन्द आदि के नाम अविस्मरणीय हैं।

इस छोटी-सी पुस्तक में इन सभी विचारकों का उल्लेख करना संभव नहीं है अत: इस अध्याय में कुछ प्रमुख समकालीन चिन्तकों विशेष रूप से स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, आचार्य विनोबा भावे, श्री मानवेन्द्र-नाथ राय एवं डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के नीति-सम्बधी विचारों का ही वर्णन किया जा रहा है।

× × ×

"उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है।',

—विवेकानन्द: पत्रावली, प्रथम भाग, पृ० २४२।

## (क) स्वामी विवेकानन्द (१८६२-१९०२) :

"समस्त मानव-जाति का, समस्त धर्मों का चरमलक्ष्य एक ही है, और वह है—भगवान से पुनः मिलन, अथवा दूसरों शब्दों में उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति, जो प्रत्येक मनुष्य का प्रकृत स्वभाव है। यद्यपि लक्ष्य एक ही है तथापि लोगों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

(विविध प्रसंग, पृ० ६६

× × ×

"ईसा की भाँति हृदयवान् बनो, तुम भी ईसा हो जाओगे; बुद्ध के समान हृदयवान् बनो, तभी बुद्ध बन जाओगे। भावना ही जीवन है, भावना ही बल है,.........वेदान्त के नीतिशास्त्र में यह एक सर्वाधिक व्यावहारिक बात है।"

(व्यावहारिक जीवन में वेदान्त, पृ० ३-१०

× × ×

स्वामी विवेकानन्द का जन्म कलकत्ता में सन् १८६२ ई० में हुआ था। वे आधुनिक युग के बड़े प्रतिभावान् चिन्तक थे। उन्होंने अपने गुरुदेव श्री रामकृष्ण परमहंस के विचारों को सुदूर देशों में ही नहीं फैलाया, बल्कि वेदान्त की शिक्षा के प्रचार के लिए अमेरिका और यूरोप में विभिन्न मिशनरियों की भी स्थापना की। पाश्चात्य देशों में उन्होंने वेदान्त की शिक्षा दी तथा भारत के सांस्कृतिक पतन, गरीबी, अज्ञानता एवं अस्पृश्यता को दूर करने के लिए अथक परिश्रम किया। विश्व के लिए उनकी सेवाएँ बहुमुखी हैं, जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) उन्होंने अमेरिका, युरोप आदि सुदूर देशों का भ्रमण कर वेदान्त का प्रचार करते और भारत की संस्कृति की महत्ता बतलाते हुए इसके उत्थान एवं स्वतंत्रता के लिए विदेशियों की सहानुभूति प्राप्त की।

(२) उन्होंने रामकृष्ण-मिशन की देश-विदेशों में स्थापना के साथ ही गरीबों, दुःखियों और रोगियों की सेवा के लिए रामकृष्ण-सेवाश्रमों की भी स्थापना की।

(३) वेदान्त एवं योग के तत्त्वों के प्रचार एवं प्रसार के लिए विभिन्न जगहों पर व्याख्यान दिए।

× ×

जहाँ तक विवेकानन्द की नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का प्रश्न हैं, उनके विचार वेद, उपनिषद्, पुराण, भगवद्गीता; योग और वेदान्त से बहुत अधिक प्रभावित हैं। साथ ही रामकृष्ण परमहंस के यौगिक अनुभव एवं उपदेशों का सबसे स्थायी प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा था। विवेकानन्द की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने प्राचीन सनातन धर्म को भी आधुनिक रूप में संसार के सामने समयानुकूल बनाकर प्रस्तुत किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भगवान का सबसे प्यारा रूप दरिद्रनारायण है। उन्होंने गरीबों की उपासना 'दरिद्रदेवोभव' पर बार-बार बल दिया। गरीबों की सेवा भगवान की प्राप्ति का साधन है और यह उतना ही पवित्र साधन है, जितना कि योग, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, उपासना आदि। दीन-दुखियों और रोगियों की निष्काम भाव से सेवा करना (ईश्वरार्पण-बुद्धि से) सबसे बड़ी योग-साधना है। इसीलिए उन्होंने अनेक मिशनरियों की स्थापना की। उनमें अनुसार त्याग और सेवा ब्रह्म-साक्षात्कार के दो प्रमुख साधन हैं। उनके अनुसार त्याग संन्यासी होकर या गृहस्थ रहते हुए भी किया जा सकता है। परन्तु, संन्यासी अधिक त्याग और सेवा कर सकता हैं। इसलिए उन्होंने रामकृष्ण मिशन, रामकृष्ण-सेवाश्रम और अद्वैताश्रम का आधुनिक ढंग से संचालन किया साथ ही, उनका यह भी विचार था कि भूखा, नंगा और दरिद्र मनुष्य न भगवान का ध्यान कर सकता है और न भगवत्-साक्षात्कार ही कर सकता है। उसका आत्मभाव शरीर से ऊपर नहीं उठ सकता है। यही कारण है कि उन्होंने शारीरिक और मानसिक सबलता पर जोर दिया और पाश्चात्य देशों में सैद्धान्तिक वेदान्त तथा भारतवर्ष में व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा दी। उनकी नैतिक शिक्षा का सार है—तीव्र कर्मण्यता एवं कर्मठता की साधना।

स्वामी विवेकानन्द की नैतिक शिक्षा के मौलिक ज्ञान के लिए उन्हीं के द्वारा लिखित **विविध प्रसंग** की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं. जो उन्होंने 'आत्मानुभूति और उसके साधन'[१] के प्रसंग में कही हैं।

"यदि सभी मनुष्य एक ही धर्म, उपासना की एक ही सर्वजनीन पद्धति और नैतिकता के एक ही आदर्श को स्वीकार कर लें, तो संसार के लिए यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी। इससे धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति को प्राणान्तक आघात पहुँचेगा। अतः हमें चाहिए कि अच्छे या बुरे उपायों द्वारा दूसरों को अपने धर्म और सत्य के उच्चतम आदर्श पर लाने की चेष्टा करने के बदले, हम उनकी वे सब बाधाएँ हटा देने का प्रयत्न करें, जो उनके निजी धर्म के उच्चतम आदर्श

1. **स्वामी विवेकानन्द : विविध प्रसंग** (श्रीरामकृष्ण-आश्रम, नागपुर), पृ० ८६-८८।

के अनुसार विकास में रोड़े अटकाती हैं, और इस तरह उन लोगों की चेष्टाएँ विफल कर दे, जो एक सर्वजनीन धर्म की स्थापना का प्रयत्न करते हैं।"......

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन—इन दोनों को मिलाकर 'योग' कहा जाता है। 'योग' शब्द संस्कृत की उसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिससे कि अंग्रेजी शब्द 'योक' (Yoke) बना है, जिसका अर्थ है ,जोड़ना,' अर्थात् अपने को उस परमात्मा से जोड़ना, जो कि हमारा प्रकृत स्वरूप है। इस प्रकार के योग अथवा मिलन के साधन कई हैं, पर उनमें मुख्य हैं कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग।

प्रत्येक मनुष्य का विकास उसके अपने-अपने स्वभावानुसार ही होना चाहिए। जिस प्रकार हर एक विज्ञान (शास्त्र) के अपने अलग-अलग तरीके होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म के भी है। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के तरीकों या साधनों को हम 'योग' कहते है। मुख्यतः योग के निम्नलिखित चार विभाग है :—

(१) **कर्म योग**—इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्त्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

(२) **भक्तियोग**—इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम के द्वारा होती हैं।

(३) **राज योग**—इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मनसंयम के द्वारा करता है।

(४) **ज्ञानयोग**—इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती हैं।

ये सब एक ही केन्द्र—भगवान—की ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग हैं। वास्तव में, धर्म-मतों की विभिन्नता लाभदायक है; क्योंकि मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा वे सभी देते हैं और इस कारण सभी अच्छे हैं। जितने ही अधिक संप्रदाय होते हैं, मनुष्य की भगवद्भावना को सफलतापूर्वक जाग्रत करने के उतने ही अधिक सुयोग मिलते हैं।[१]

---

1. ..."ईश्वर प्रत्येक हृदय में साथी के रूप में विद्यमान हैं, और लोगों को, विशेषतः ईसा मसीह के अनुयायियों को तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। वास्तव में, ईसा मसीह तो प्रत्येक अच्छे मनुष्य को भगवान के परिवार में सम्मिलित कर लेना चाहते थे। मनुष्य किसी विशेष बात पर विश्वास करने से ही भला नहीं बन जाता, पर स्वर्ग-स्थित परम-पिता की इच्छा पूर्ण करने से भला बनता है। भला बनना और भला करना—इसी आधार पर संसार में एकता स्थापित हो सकती है।"

(विवेकानन्द:**सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार से उद्धृत**

स्वामी विवेकानन्द की राय में सभी जीवों में एकता स्थापित करने का सबसे बड़ा साधन प्रेम है। उन्होंने लिखा है कि "प्रेम जोड़ता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं—माँ संतान के साथ, परिवार नगर के साथ, संपूर्ण जगत् पशु-पक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है; क्योंकि प्रेम ही सत् है, प्रेम ही भगवान् है और यह सभी कुछ उसी एक प्रेम का प्रकाश है।

स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी देन है—कर्म के लिए आह्वान। उनका व्यावहारिक उपदेश मानव-केन्द्रित और क्रियावादी है। सैद्धान्तिक वेदान्त को व्यावहारिक रूप देना उनका प्रमुख उद्देश्य रहा है। उन्होंने बार-बार गीता के 'निष्काम कर्म' के नैतिक आदर्श को दुहराया है। यद्यपि वे अन्य मार्गों की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं; क्योंकि उनकी राय में सभी मार्ग एक ही लक्ष्य की प्राप्ति कराते हैं' तथापि कर्मठता की शिक्षा के प्रति उनका विशेष झुकाव है। इस अभिप्राय को उन्होंने 'जाग्रत भारत' शीर्षक से अपनी एक कविता में बड़े सुन्दर ढ़ंग से व्यक्त किया है।[1]

नीतिशास्त्र के लक्ष्य के संबंध में विवेकानन्द का विचार है कि इसका एकमात्र लक्ष्य समस्त जीवों में एकता स्थापित करना है—

'नीतिशास्त्र एकता है; इसका आधार प्रेम हैं। वह इस विविधता पर दृष्टिपात नहीं करता। नीतिशास्त्र का एकमात्र का उद्देश्य है—यह एकत्व और यह एकरूपता। आजतक मानव-जाति नैतिकता के जिन उच्चतम विधानों की खोज कर सकी है, वे विविधता नहीं स्वीकार करते, उनकी खोज-बीन के निमित्त रुकने के लिए उनके पास समय नहीं है, इसका एक उद्देश्य बस वही एकरूपता लाना है।"[2]

स्वामी विवेकानन्द की राय में मानव जाति का चरम लक्ष्य ज्ञान-लाभ है। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य सुख नहीं, वरन् ज्ञान है; सुख और आनन्द का तो एक-न-एक दिन अंत हो ही जाता है। अतः सुख को चरम लक्ष्य मान लेना भूल है। संसार में सब दुःखों का मूल यही है कि मनुष्य अज्ञानवश सुख को ही अपना लक्ष्य समझ लेता है। उनकी राय में सुख और दुःख दोनों ही महान् शिक्षक हैं;

---

1. "जागो उठो, अब और स्वप्न न देखो !
यह सपनों का देश है, जहाँ कर्म
बिना धागे के हार गूंथता है
मधुर अथवा विषाक्त फूलों के
हमारे विचारों के साथ।".

2. विवेकानन्द : सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार, पृ० १०।

और जितनी शिक्षा उसे शुभ से मिलती है, उतनी ही अशुभ से भी परन्तु व्यक्ति को आगे बढ़ाने में दु:ख अधिक सहायक है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्रों का अध्ययन करें तो अधिकांश महापुरुषों में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दु:ख ने तथा संपत्ति की अपेक्षा निर्धनता ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है एवं प्रशंसा की अपेक्षा आघातों ने ही उनकी अन्त:स्थ ज्ञानाग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।

स्वामी विवेकानन्द की राय में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना उसके साध्य के विषय में। साधनों की परवाह नहीं करने के कारण ही प्राय: जीवन में असफलताएँ होती हैं। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को मजबूत बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही।

## (ख) श्री अरविन्द घोष (१८७२-१९५०) :

"Spirituality is something else than intellecutality its appearance is the sign that a power greater than mind is striving to emerge in its turn."

—The Future Evolution of Man, P. 67.

श्री अरविन्द समकालीन युग के भारत के ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के गणमान्य चिन्तकों में से हैं। वे एक ही साथ महाकवि, महान् विचारक, प्रकांड विद्वान् स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी एवं महायोगी थे। उनका जन्म कलकत्ता में सन् १८७२ ई० में हुआ था। विदेशों में शिक्षा पाने पर भी उनमें राष्ट्रीयता तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रगाढ़ प्रेम था। विदेश से लौटते ही इसी आकर्षण के कारण वे स्वतंत्रता-संग्राम में जुट गए। बंगाल के विभाजन के समय आपने अपनी बड़ौदा राज्य की नौकरी का परित्याग कर कलकत्ता में आकर राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व किया और लगभग चार वर्षों तक लोकमान्य बालगंगाधर तिलक तथा श्री विपिनचन्द पाल के साथ गरम दल का नेतृत्व किया।

अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उन्होने 'कर्मयोगिन्' धर्म, 'वन्देमातरम्' आदि अनेक राजनीतिक पत्रों का संपादन किया। इस वैचारिक स्वतंत्रता के लिए इन्हें जेल की सजा दी गई। कहा जाता है कि अलीपुर जेल में उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। बाद में सन् १९१० ई० में उन्होंने राजनीति से अवकाश ले, परतंत्र भारतवर्ष की सीमा के बाहर

फ्रांसीसी-शासित पांडिचेरी में एक फ्रांसीसी सज्जन और उनकी पत्नी की मदद से श्री अरविन्द आश्रम की स्थापना की। सन् १९१४ ई० में उन्होंने 'आर्य' नामक पत्रिका के माध्यम से लगातार भारतीय संस्कृति पर लेख लिखना प्रारंभ किया, उन्होंने इसमें वेद, उपनिषद् गीता, योग और दैवी जीवन से संबंधित लेख प्रकाशित किए। ये लेख बाद में पुस्तकों के रूप में भी प्रकाशित हुए।[1]

पांडिचेरी में आश्रम की स्थापना के बाद श्री अरविन्द के जीवन का प्रमुख उद्देश्य योगाभ्यास एवं आध्यात्मिक लेख लिखना बन गया। यहाँ तक कि दूसरे लोगों से भी वे बहुत कम ही मिला करते थे। अपने उद्देश्य के बारे में उन्होंने लिखा है कि "पांडिचेरी आने के पहले मैं कवि तथा राजनीतिज्ञ था न कि दार्शनिक...मेरा सिद्धान्त था कि योगी किसी भी कार्य को करने की क्षमता रखता है, अतः जब रिचर्ड ने मुझसे दार्शनिक पत्रिका में सहयोग देने को कहा तब मैं अस्वीकार नहीं कर सका। जब वे मुझे अकेले छोड़कर युद्ध में चले गए तब ६४पृष्ठों के दार्शनिक लेख मुझे अकेले प्रतिमास लिखने पड़े। जो कुछ मुझे योगाभ्यास के द्वारा अनुभव हुआ, उसे मैंने बौद्धिक भाषा में व्यक्त किया और इस प्रकार मेरे दर्शन की उत्पत्ति हुई।"[2] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनके दर्शन एव नीति-संबंधी विचार उनके योग से संबंधित हैं। श्री अरविन्द ने भी बार-बार अपने योग को ही मौलिक स्वीकार किया हैं।

श्री अरविन्द के दर्शन का प्रमुख विभाजन विकासवाद, नवीन वेदान्त और मानवतावाद में किया जा सकता है। परन्तु इस अध्याय में हम उनके नीति-संबंधी विचारों की ही संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

**The Ideal of Human Unity'** नामक पुस्तक में, जिसमें उन्होंने अपना मानवतावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उन्होंने शंकर के मायावाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि मायावाद को मानना सर्वनाश का आलिंगन करना है; क्योंकि यह पूर्णयोग (Integral Yoga) से मेल नहीं खाता। उनकी राय में समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार

---

1. श्री अरविन्द की प्रमुख पुस्तकें हैं—The Life Divine; Essays on the Gita; The synthesis of Yoga; The Ideal of Human Unity; The Human Cyele; A System of National Educatlon; Foundations of Indian Culture; On the Vedas; Savitri; The Riddle of the Universe; The Future Evolution of Man.eto.

2. *Sri Divakar:* **Mahayogi** *p.* 185 & **The Riddle of the Universe.** P. 132.

नैतिक जीवन का आदर्श मानवता का कल्याण है। परन्तु, यह कल्याण मात्र लौकिक कल्याण नहीं, बल्कि आध्यात्मिक कल्याण भी है। यह कल्याण कोई पारलौकिक उपलब्धि नहीं है, अपितु इसी पृथ्वी पर संभव है। उनका आदर्श है—पृथ्वी पर दिव्य जीवन की प्राप्ति और उसका साधन है—दिव्यचेतना को जाग्रत करना। इसी प्रयास में उन्होंने लंबे बरसे तक योग-साधना की।

उनकी प्रमुख शिक्षा है मनुष्य को संसार में रहते हुए मोक्ष प्राप्त करना है, न कि इसको त्यागकर। मनुष्य की पूर्णता और निःश्रेयस इसी में है कि इस विश्व का जो संचालक है, उसके कार्य में सहयोग दे। अपनी कोई अलग चाह या उद्देश्य न रखकर अपने पूरे जीवन को नियंता की इच्छा पर छोड़ दे, उसकी आज्ञा के अनुसार चले और कार्य करे।

अपनी प्रमुख पुस्तक, **'The Life Divine'** में उन्होंने अपने विचारों का विस्तृत वर्णन किया है। इस पुस्तक में वे मायावाद के समर्थक अद्वैतवादियों के विचारों की कटु आलोचना करते हैं और 'जीव मिथ्या हैं' तथा 'केवल निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र वास्तविकता है', इसे वे स्वीकार नहीं करते। रामानुज के ही समान वे मानते हैं कि संसार, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, शिव, शक्ति सभी सत्य हैं तथा सबका अपना महत्त्व है।

श्री अरविन्द के दर्शन के तीन प्रमुख, सिद्धांत हैं, जो उनकी विभिन्न रचनाओं में परिलक्षित होते हैं। विकासवाद के सिद्धांत में वे संसार के विकास के क्रम को जड़ या भूत, जीव और मनस् (Matter, Life and Mind) तत्त्व से बताते हैं। परन्तु ये सभी तत्त्व अपने-आप सृष्टि नहीं कर सकते। इनकी सृष्टि के लिए एक चेतन तत्त्व (Spirit) की आवश्यकता है। इनकी उत्पत्ति से अचेतन तत्त्व चेतन या आत्म-चेतन में परिवर्तित हो जाएगा, जड़ पदार्थ आध्यात्मिकता में बदल जाएगा। इस प्रकार मानसिक तत्त्व अंत में अति मानसिक में बदल जाएगा। विकास की इस अवस्था में सभी मानसिक तत्त्व प्रबुद्ध व्यक्तियों को (Gnostic or Superman) में परिवर्तित हो जाएगा। ऐसे प्रबुद्ध व्यक्तियों को ही आत्मज्ञानी प्राज्ञ, पूर्ण ज्ञानी, जीवन्मुक्त और बोधिसत्त्व की संज्ञा दी गई है। कुछ इसी तरह की कल्पना उपनिषदों में भी पाई जाती है—'अन्नमय ब्रह्म, प्राणमय ब्रह्म, मनोमय ब्रह्म और सबसे अंत में अध्यात्मा ब्रह्म।' श्री अरविन्द का विश्वास है कि 'पार्थिव विकास अपनी महान ऊर्ध्वमुखी गति प्राप्त कर लेगा और इस दिव्य प्रगति के पथ पर एक युगान्तरकारी चरण रखेगा।'[1]

---

1. Aurobindo : The Human Cycle, P. 334

इस प्रकार श्री अरविन्द मानव-जीवन के मूलभूत रूपान्तर में विश्वास करते हैं। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि मनुष्य अब एक नए आध्यात्मिक युग के द्वार पर है, जो ऐसे रूपान्तरण से प्रारम्भ होगा। वे मानते हैं कि मनुष्य एक अर्द्ध-देवता है, जो अपने पशु स्वभाव से थोड़ा ऊपर उठा है। फिर भी, उसमें बहुत-कुछ पशुओं से समानता है। पर वह 'संपूर्ण देवता' बनने के पथ पर है और यह स्थिति उसे अपनी तुलना में उतनी ही असामान्य लगती है जितना वह स्वयं पशु की तुलना में हैं।[1]

श्री अरविन्द की दूसरी महत्त्वपूर्ण कल्पना है—पूर्ण योग (Integral Yoga)। उनके विचार में जीवन का लक्ष्य केवल मुक्ति या व्यक्तिगत सिद्धि की प्राप्ति नहीं है, बल्कि विश्वगत पूर्णत्व की प्राप्ति है। इसीलिए उनके योग को पूर्ण योग, संश्लेषणात्मक योग या अतिमानस-योग कहा गया है। उनके योग की यह विशेषता है कि यह व्यक्तिगत मुक्ति का ही साधन नहीं है, बल्कि मानव-मात्र या प्रकृति-मात्र के रूपान्तरण में भी सहायक हैं। अन्य मतों के योग में यह कमी है कि उनमें संपूर्ण प्रकृति के रूपान्तरण को ध्यान में नहीं रखा गया है। उनमें केवल एक दिशा में ही विकास की चर्चा है (Only Ascent or Evolution), जबकि श्री अरविन्द के योग की यह अपनी विशेषता है कि संपूर्ण योग में ऊर्ध्वगति के उपरान्त दिव्य चेतना को नीचे लाने का भी प्रयत्न होता है (Involution or Descent)। The Synthesis of Yoga नामक पुस्तक में वे लिखते हैं कि यद्यपि विकास का क्रम प्राकृतिक नियमों द्वारा स्वभावतः चलता रहता है, तथापि योग इस क्रम में तीव्रता प्रदान करता है—'योग विकास को दिव्य करने के लिए है।'[2] श्री अरविन्द के पूर्ण योग की विशेषता है कि इसका लक्ष्य केवल व्यक्तिगत पूर्णता, मोक्ष, शक्ति या आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करना नहीं, बल्कि विश्व के पूर्ण विकास या अभिव्यक्ति में सहायता प्रदान करना है। उनका विश्वास है कि जीवन का प्रत्येक अंश सच्चिदानन्द का ही है इसलिए प्रत्येक अंश को पूर्णता प्राप्त करनी है। उनकी राय में संपूर्ण जीवन योग है। जबतक शरीर, प्राण तथा मानस—सभी का दिव्यीकरण (Divinization) या अतिमानस (Super-mind) की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक हमारा लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। यही कारण है कि उन्होंने इस तरह के योग को संश्लेषणात्मक योग (Synthetic Yoga) की संज्ञा दी है। इस तरह के योग में व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों और विभिन्न पहलुओं के साथ जगत् का भी दिव्यीकरण होता है। श्री अरविन्द के योग में अन्य सभी योगों के

1, वहीं, पृ० २६१।

2. *Aurobindo* : The Synthesis of Yoga P.26

साधन तथा लक्ष्यों का भी समन्वय हैं। उनकी राय में पूर्ण योग की प्राप्ति मानों दिव्य जगत में नवीन जन्म ग्रहण करना है। पूर्णत्व की प्राप्ति एक प्रकार का आध्यात्मिक परिवर्त्तन है।

श्री अरविन्द ने इस पूर्ण योग की प्राप्ति के विभिन्न स्तरों का उल्लेख किया है। इनमें तीन प्रमुख हैं—आत्म-समर्पण, द्रष्टा-मात्र का भाव और सर्वत्र भगवद्-दर्शन का अभ्यास करना। पहली अवस्था में अपनी कोई इच्छा और आकांक्षा न रखकर अपने शरीर, जीवन, मन और बुद्धि को भगवान को पूर्णत: समर्पित कर देना है। इस तरह के विश्वास को नित्य दृढ़ करना है कि भगवान जो भी करेगा, वह हमारे कल्याण के लिए ही करेगा। आत्मसमर्पण इस प्रकार प्रगाढ़ हो जाए कि अपने ऊर्ध्वविकास के लिए भी भगवान से ही प्रार्थना हो। दूसरी अवस्था तब आती है जब योगाभ्यास करनेवाला अपने को द्रष्टा-मात्र समझकर अलग से यह निरीक्षण करता रहता है कि भगवान की शक्ति किस तरह उसके जीवन को परिवर्त्तित करती है और उसकी प्रकृति का किस प्रकार संस्कार करती है। तीसरी अवस्था उस समय पहुँचती है जब साधक संसार के सभी रूपों में भगवान को ही देखता है या देखने का अभ्यास करने लगता है। संपूर्ण सृष्टि को सच्चिदानन्द का ही अंश, प्रकाश और विस्तार समझकर वह दुनिया की प्रत्येक वस्तु, प्राणी और घटना में भगवद्दर्शन करने लगता है। इस संबध में श्री अरविन्द पूर्णत: आशावादी हैं। उनका तो यहां तक विश्वास है कि 'इस प्रकार के योग द्वारा भूमंडल पर अधिक लोग प्रबुद्ध (Gnostic beings) हो जाएँगे तो भगवान का अवतार होगा और यह जगत दिव्य बन जाएगा और जो दोष इसमें इस समय दिखाई पड़ रहे हैं, नहीं रहेंगे।'

Light on Yoga नामक पुस्तक मैं दैवीकरण (Divinization) की तीन समस्याओं—अभीप्सा; श्रद्धा और आत्म-समर्पण—का उल्लेख पाया जाता है।[1] 'मनुष्य का भावी विकास' (The Future Evolution of Man) में दिव्य जीवन की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं का वर्णन है।[2]

---

1. Light on Yoga P. 4.

2. (i) First, an increasing control of the individual over his own nature and a more and more conscious participation in the action of the Supernature.

(ii) A second condition consists in a conscious obedience, a surrender of our whole being, to the light, the truth and force from above.

(iii) A third condition is the unification of the whole being around the true self and the opening of the individual to the Cosmic Consciousness."

(*Aurobindo* : The Future Evolution of Man. pp. 94-8)

अन्य योग के सिद्धान्त में आत्म-समर्पण साधना के अंत में आता है, किन्तु इनके पूर्णयोग (Integral Yoga) में यह आधार-स्वरूप है। इस पूर्णयोग में शारीरिक शुद्धि को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। श्री अरविन्द अष्टांग-योग के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि The Human Cycle में तो श्री अरविन्द ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग को भी अपने पूर्णयोग में स्थान देते हैं। परन्तु ये सभी योग साधन के रूप में ही स्वीकार किए गए हैं; क्योंकि साध्य तो एक मात्र अतिमानस (Super-mind) की प्राप्ति ही है।

**Basis of Yoga** नामक पुस्तक में श्री अरविन्द यह मानते हैं कि इस पूर्ण योग के अधिकारी सभी जीव हो सकते है; क्योकि विकास के क्रम में सबको दिव्य जीवन (Divine life) प्राप्त करना और प्रबुद्ध मानव (Gnostic being) बनना हैं। अन्य योगों के समान ही इस योग की प्राप्ति में भी कुछ चीजों की आवश्यकता पड़ती है—अचंचलता, स्थिरता, शांति और नीरवता। इन बातों के अभ्यास के बिना योग संभव नहीं हो सकता। इस तरह के योग में बाह्याडंबरों का कोई भी स्थान नहीं है। इसका कारण है कि इसमें मात्र क्रिया ही नहीं है; अपितु ज्ञान और भक्ति भी हैं। इसमें भी शास्त्र, गुरु और उत्साह की महत्ता स्वीकार की गई है।

नैतिकता के संबंध में श्री अरविन्द का विचार है कि यह सीमित बुद्धि की कल्पना है, न कि सृष्टि का स्वरूप। 'दैवी जीवन' (**The Life Divine**) में उन्होंने लिखा है कि सृष्टि के अनेक स्तरों में से एक नैतिक स्तर भी है।[1] जब तक दुनिया की विकास-प्रक्रिया मानसिक स्तर तक है तबतक नैतिक नियमों का महत्व है और उनका पालन अनिवार्य है। लेकिन जब विश्व-प्रक्रिया अतिमानस (Super mind) के स्तर पर पहुँच जाएगी और प्रबुद्ध जीवों (Gnostic beings) का प्रादुर्भाव हो जाएगा तब इस जगत के नैतिक नियमों का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। इन प्रबुद्ध नैतिक जीवों का स्वरूप क्या होगा या इनके नैतिक आचरण किस तरह के होंगे? अतिमानस क्या है? इस संबंध में बौद्धिक स्तर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसकी व्याख्या के लिए दूसरी तरह की भाषा की आवश्यकता है।[2]

नैतिक विकास के संबंध में उनका विचार है कि नैतिक पूर्णता एक सतत विकसनशील तत्त्व है, शुभ और अशुभ मेंमात्रागत परिवर्त्तन होता रहता है, समय-

1. *Aurobindo* : **The Life Divine**, PP 91-2

2. "It is difficult to conceive intellectually what the Super-mind is; and to describe it another language would be needed than the poor abstract counters of the mind."

(*Aurobindo* : **The Future Evolution of Man**, P 92)

समय पर उसके अर्थ और मूल्यों में भी परिवर्त्तन होता रहता है ।[1]

श्री अरविन्द के अनुसार मानवीय आचरण के चार प्रमुख स्तर हैं, जिनका क्रमशः विकास होता है। ये सिद्धांत हैं—(१) व्यक्तिगत आवश्यकता, पसंद और इच्छा (The first is personal need, preference and desire); (२) समूह का शुभ और नियम (Law and good of the collectivity); (३) आदर्श आचरण (An ideal ethic); (४) प्रकृति का सर्वोत्तम ईश्वरीय नियम (The highest divine law of the nature)। इनमें से प्रथम दो वैयक्तिक हैं। विकास की लम्बी अवधि में व्यक्ति केवल इन्हीं दो से प्रारम्भ करता है; क्योंकि ये दोनों ही उसके जीवन के अस्तित्व के उपादान-तत्त्व हैं। इस पृथ्वी पर मनुष्य का यह प्रमुख व्यापार है कि वह ज्ञात या अज्ञात रूप में ईश्वर की सजीव मूर्ति को मानवता के रूप में अभिव्यक्त करे। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रकृति उसमें काम कर रही है, क्योंकि सभी प्रयासों का एकमात्र उद्देश्य आनन्दातिरेक है। आनंद से ही चैतन्य पुरुष की उत्पत्ति होती है।

मनुष्य के जीवन में प्रमुख रूप से दो प्रवृत्तियाँ काम करती है—वैयक्तिक एवं सामाजिक। जबतक मनुष्य पाशविक प्रवृत्तियों से प्रचालित होता रहता है, तबतक वह अपनी वैयक्तिक इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा रहता है। परन्तु बाद में चलकर उसे अनुभव होने लगता है कि उसका अपना जीवन भी दूसरे तत्त्वों और परिस्थितियों से संबंधित हैं। उनके अपने अस्तित्व एवं संतोष के लिए, भी समूह का अस्तित्व अनिवार्य हैं। उसे अनुभव होने लगता है कि वैयक्तिक विचार, भावना, आवश्यकता, इच्छा, प्रवृति और स्वभाव की संतुष्टि के लिए भी सामाजिक संतुष्टि महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार दो मूल प्रवृत्तियों में विरोध के कारण (जो उसके व्यवहारों को नियंत्रित करती हैं) संघर्ष उत्पन्न होता है। समूह की यह माँग होती है कि व्यक्ति अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पूर्णतः समाज के लिए न्योछावर करे। बड़े सामाजिक लाभ के लिए क्षुद्र स्वार्थ की बलि चढ़ाई जाय। समाज की आवश्यकता को वह अपनी आवश्यकता समझे। वह अपने लिए जिन्दा रहना छोड़ कर समाज के लिए जीना सीखे।

इस विरोध को समाप्त करने के लिए व्यक्ति में एक नए सिद्धांत की उत्पत्ति होती है, जो उपर्युक्त दो विरोधी प्रवृत्तियों से ऊँचा होता हैं। इस नई प्रवृत्ति का उद्देश्य दोनों के विचारों को समाप्त करने या उनमें समझौता लाने का होता

---

1. "Since perfection is progressive, good and evil are shifting qualities and change from time to time their meaning and value' (वही, पृ० ५७)

है। यह तीसरा सिद्धान्त नैतिक आदर्श है। परन्तु नैतिक आदर्श के पालन करने पर भी विरोध समाप्त नहीं होते, अपितु बढ़ते ही जाते हैं, क्योंकि नैतिक नियम कठोर होते हैं। जब इनका जीवन में प्रयोग किया जाता है तब इनका अंत समझौते में होता है, जो इन विरोधों को शक्तिहीन कर देता है।[1]

श्री अरविन्द का विचार है कि नैतिक नियम की पृष्ठभूमि में हमारे दैवी स्वरूप के अन्दर ही एक महत्तम नियम के रूप में आध्यात्मिक चेतना का ऐसा बृहत्तर सत्य निहित है, जो बिना किसी बन्धन के अपने को हर क्षेत्र में अभिव्यक्त करता है। यही चेतना प्रत्येक व्यक्ति तथा संपूर्ण विश्व के साथ हमारे संबंधों को समुचित रूप से निर्धारित करती हैं तथा हमारे अन्दर जो दैवी स्वरूप है' उसे भी उसके वास्तविक रूप में अभिव्यक्त करती है। यह हमारे कर्मों का चतुर्थ तथा महत्तम नियम है, जो एक निरपवाद तथा एक निरपेक्ष स्वातंत्र्य है।[2]

जीव का चरम लक्ष्य दिव्य जीवन (Divine Life) प्राप्त करना है। मानसिक एवं नैतिक सत्ता के अंतस्थल में एक महान दिव्य सत्ता का वास रहता है, जो आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक (Spiritual and Superamental) है। नैतिक आचरण का प्रयोजन यही है कि वह इस दिव्य जीवन की प्राप्ति में सहायता करता है। यह दिव्य जीवन हमारे अंतस्थ में वास करने वाले ईश्वर का अंश है। हमारी आत्मा अपनी पूर्णता की प्राप्ति में सतत आगे बढ़ रही है। यह सत्यता एवं आध्यात्मिक नियम निश्चित रूप से हमारे स्वरूप में सर्वोत्तम तत्त्व है। वैयक्तिक

---

1. 'But conflicts do not subside, they seem rather to multiply. Moral laws are arbitrary and rigid, when applied to life they are obliged to come to terms with it and end in compromises which deprive them of all power.''

(वही, पृ० ६३)

2. ''Behind the ethical law, which is false image, a greater truth of a vast consciousness without fetters unveils itsaf, the supreme law onr divine nature. It determines perfeetly our relations with əach being and with thc totality of rhe universe, and it also revcals the exact roythm of the direct expression of the Divine in us. It is the fourth and supreme principle of action, which is at the same time imperative law and absolute freedom,''

(वही, पृ० ६४)

आत्माओं में परम तत्त्व से साक्षात् संपर्क स्थापित करने की क्षमता है। इस प्रकार अनुभव में हम पाते हैं कि यह सर्वोच्च उपलब्धि एक निरपेक्ष आदेश एवं पूर्ण स्वतंत्रता है। यह निरपेक्ष आदेश इसलिए है कि हमारी सभी आंतरिक और बाह्य गतिविधियाँ अपरिवर्त्तनशील सत्य द्वारा संचालित होती हैं। फिर भी प्रत्येक क्षण और प्रत्येक गति में सर्वोच्च सत्ता की पूर्ण स्वतंत्रता हमारे चेतन एवं स्वतंत्र स्वरुप को बड़े कौशल से संचालित करती रहती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि श्री अरविन्द का नैतिक विचार आध्यात्मिकता के रस से सराबोर है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि उनके दर्शन का विवेचन तर्क के आधार पर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर होना चाहिए। उनके अनुसार नीति और दर्शन का एकमात्र उद्देश्य पूर्णत्व की प्राप्ति है। उनका तो यह भी विश्वास कि है शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य आत्मिक परिवर्त्तन हैं। योग ऐसी ही शिक्षा है, जो हमारे भीतर स्थित आत्मा को जाग्रत कर देती हैं।

### (ग) महात्मा गांधी (१८६९—१९४८) :

"मनुष्य-जीवन का लक्ष्य आत्मा-दर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीव-मात्र की सेवा करना है, उसमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।"

—**गांधी वाणी**, पृ १४५।

× × ×

"बिना आचार के कोरा बौद्धिक ज्ञान वैसा ही है जैसा कि खुशबूदार मसाला लगाया हुआ मुर्दा।"

—**गांधी वाणी** पृ० १४५।

× × ×

"मनुष्य अपने लिए क्षमा चाहता है' दूसरों के लिए न्याय।" गांधी कहता हैं, "हृदय-परिवर्त्तन का अर्थ है अपने लिए न्याय और दूसरे के लिए क्षमा।"

—दादा धर्माधिकारी : **सर्वोदय-दर्शन**, पृ० १३५।

× × ×

विश्व के युग-प्रवर्त्तकों में महात्मा गांधी की महत्त्वपूर्ण गणना की जाती है। सन् १९६९ ई० में तो संसार के सभी देशों ने गांधी-शताब्दी का पर्व मनाकर उनके प्रति जो श्रद्धा व्यक्त की है, उसे देखते हुए यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि ईसा मसीह और महात्मा बुद्ध के बाद शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति होगा, जिसके प्रति अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व के सभी देशों के लोगों ने हृदय से

इतनी गहरी श्रद्धा व्यक्त की हो। इस महत्ता का सबसे बड़ा कारण उनके जीवन में सत्य और अहिंसा-व्रत का पालन ही है। गांधीजी ईश्वरनिष्ठ व्यक्ति थे तथा जीवन एवं जगत् की सभी समस्याओं का समाधान धार्मिकता एवं नैतिकता के परिप्रेक्ष्य में ही खोज निकालना चाहते थे। सभी धर्मों एवं सिद्धान्तों के प्रति उनके हृदय में समान आदर की भावना थी। उनका संपूर्ण जीवन नैतिकता की प्रतिष्ठा में व्यतीत हुआ। विदेशी शासन के प्रभाव से भारतीयों में धर्म, आचार-विचार आदि में महान् परिवर्त्तन हो गया था और लोग अहिंसा-धर्म की अपेक्षा अन्य मार्गों को श्रेष्ठ तथा सुगम अनुभव कर रहे थे। स्वयं गांधीजी को ईसाई होने का निमंत्रण दिया गया था, परन्तु उस समय उन्हें श्री रामचन्द्र जैन ने भारतीय धर्म एवं संस्कृति की विशेषताओं से परिचित कराया, जिसके कारण बाद में चलकर उन्हें हिन्दू-संस्कृति के प्रति विशेष झुकाव हो गया।

यद्यपि उन्होंने राजनीति को अपना क्षेत्र चुना, फिर भी वे आजीवन नैतिक पथ का ही अनुसरण करते रहे। उनकी यह विशेषता है कि भौतिक युद्ध में लड़ने के लिए भी उन्होंने अहिंसा को ही अपनाया; क्योंकि उन्हें दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा-धर्म कभी भी पराजित नहीं हो सकता। इसलिए यद्यपि राजनीति उनका साधन थी तथापि शस्त्र-शक्ति के स्थान पर अहिंसा-धर्म उनका साध्य था। गांधी के लिए तो अहिंसा और सत्य से बढ़कर अन्य धर्म ही नहीं था। उनका तो यहाँ तक विश्वास था कि सत्य और अहिंसा ही परमात्मा है :

"सत्य ही ईश्वर है। गांधी ने इसको पहचाना और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि ईश्वर अगर बहुत-से होंगे तो मेरा सत्य और तेरा सत्य अलग-अलग हो जाएँगे। गांधीजी ने कोशिश की कि ईश्वर और अल्लाह को एक जगह लाएँ। लेकिन, यह हो कैसे सकता था ? दोनों के धर्म संगठित थे। तब उन्हें कहना पड़ा कि ईश्वर सत्य नहीं, बल्कि सत्य ही ईश्वर है।'[1]

गांधीजी का जीवन सत्यनिष्ठा का एक सुन्दर प्रमाण है। उन्होने सत्य की रक्षा करते हुए भारतीय दर्शन के अध्यात्म-कोष से उच्चतम गुणों को ढूँढ़ निकाला। विदेशियों की प्रवंचक असत्यमूलक कूटनीति के स्थान पर सत्य और अहिंसा का कवच उन्होंने धारण किया। हिंसात्मक प्रवृत्ति के विरोध में अहिंसा को अपनाया। अंग्रेजी की अच्छी योग्यता रखते हुए भी राष्ट्रभाषा (हिन्दी) को व्यवहार भाषा बनाया। साहबी ठाट को छोड़कर घुटनों तक की धोती पहनी। विदेशी वस्त्रों का परित्याग कर स्वदेशी वस्त्रों का अवलंबन किया। उनका विश्वास था कि 'आत्मनिर्भरता ही पराधीनता से मुक्त करा सकती है।'

1. गांधीजी के ग्रंथ 'सर्वोदय' से उद्धृत।

गांधीजी महान् आस्तिक थे। राजनीति में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी निरन्तर मौन, उपवास, ईश्वर-स्मरण और नित्य प्रार्थना किया करते थे। उन्होंने अनेक बार कहा है कि प्रार्थना से मुझे शान्ति मिलती है। यदि मैं अपने कार्यों में परमात्मा की अंतःप्रेरणा, सत्य की शक्ति, अहिंसा की क्षमता और प्रार्थना-समुत्पन्न शान्ति न प्राप्त करता तो यह कटु राजनीति मुझे अशान्ति एवं नरक के द्वार में ढकेल देती। एक समय गांधीजी ने एक विदेशी के प्रश्न के उत्तर में यहाँ तक कहा कि 'चौबीसों घंटों में प्रत्येक मिनट परमात्मा के साक्षात्कार की भावना एक नेता के लिए अत्यन्त आवश्यक गुण है।'

गांधीजी के जीवन का सबसे बड़ा प्रयोग अहिंसा की शक्ति की इस युग में प्रतिष्ठित कर देना है। प्राचीन युक्ति है—

**"धिक् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बल बलम् ॥"**

शस्त्र-बल को धिक्कार है, ब्रह्म-बल (अहिंसा या क्षमाशक्ति) ही वास्तविक बल है। अहिंसा ही ब्रह्म बल है—

**"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।"**

गांधीजी ने अपने विभिन्न प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि 'अहिंसा सर्वोच्च प्रकार की सक्रिय शक्ति है, वह आत्मबल या हमारे भीतर विराजमान अहिंसा की शक्ति है। अपूर्ण मानव उसे पूरा ग्रहण नहीं कर सकता। परन्तु अहिंसा का लेशमात्र भी जब सक्रिय बन जाता है तब गजब का काम करता है।' इतना प्रत्यक्ष प्रमाण तो उनके जीवन के विभिन्न परीक्षण एवं प्रयोग हैं।

गांधीजी एक ही साथ महान् विचारक, चिन्तक, राजनीतिज्ञ एवं समाज-सुधारक थे और उनके विचारों की प्रायः जीवन के सभी प्रमुख पहलुओं पर अमिट छाप है। प्रस्तुत अध्याय में हम गांधीजी के केवल नीति-सम्बन्धी विचारों का एक संक्षिप्त परिचत देते हुए बीसवीं शताब्दी की नैतिक चिन्तनधारा के विकास में उनके योगदान की चर्चा करेंगे।

यद्यपि गांधीजी रूढ़ अर्थ में दार्शनिक नहीं थे, वे मुख्यतः राजनीतिक नेता एवं समाज-सुधारक थे, फिर भी उन्होंने भारतीय दर्शन के मूलतत्त्वों को अपने जीवन में उतारने का सफल प्रयास किया है। यही कारण है कि उनके लिए नीति एक जीवन-मार्ग है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं 'यंग इडिया' में लिखा है कि 'अद्वैतवादी होते हुए भी मैं द्वैतवाद का समर्थन करता हूँ। दुनिया प्रतिक्षण बदल रही है और इसलिए यह नाशवान् हैं, इसका स्थायी अस्तित्व नहीं है। हालाँकि यह निरन्तर बदल रही है फिर भी इसमें कुछ चीजें ऐसी हैं जा शाश्वत हैं और

उस हद तक यह वास्तविक है। इसलिए मुझे इसे अविनाशी एवं नाशवान् कहने और इस प्रकार अनेकतावादी या स्याद्वादी कहे जाने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मेरा स्याद्वाद पण्डितों का स्याद्वाद नहीं है, यह विलक्षण रूप से मेरा अपना है।[1]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनका विचार कितना समन्वयात्मक था।

गांधीजी के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की अनुभूति है तथा जीवन की सभी सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक क्रियाएँ इसी ईश्वर-अनुभूति के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए प्रचालित होनी चाहिए। सभी प्राणियों की तन-मन से सेवा की इसीलिए आवश्यकता हो जाती है कि ईश्वर-प्राप्ति का एक-मात्र साधन उनके द्वारा रचित जीवों के साथ एकाकार हो जाना है। इस लक्ष्य की पूर्ति मानवता की सेवा द्वारा ही संभव है।

अपने नैतिक एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों के निर्माण में यद्यपि गांधीजी ने अनेक पाश्चात्य विचारकों जैसे टॉल्स्टाय (Tolstoy), रस्किन (Ruskin), थोरो (Thoreau) तथा उपयोगितावादी चिन्तकों से प्रेरणा ग्रहण की है, फिर भी किसी विचारधारा की नकल उन्होंने नहीं की है। उनके विचारों में सबकी भलाई निहित है—'सर्वे भवन्तु, सुखिनः।' इस पुराने आदर्श को गांधीजी ने 'सर्वभूत हिताय' के नाम से चरितार्थ किया है। यही उनके तत्त्वज्ञान की जड़ है। फिर भी उपयोगितावादी (Utilitarians) विचारकों के अनुसार अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक सुख (Greatest good of the greatest number) की प्राप्ति ही उनका अंतिम लक्ष्य नहीं है। इस संबंध में स्वयं गांधीजी लिखते हैं कि "कोई भी अहिंसावादी उपयोगितावादी दार्शनिकों के सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता।"[2] "बहुत बातों में अहिंसावादी और उपयोगितावादी सहमत हो सकते हैं, किन्तु ऐसा भी एक समय

---

1. "I am an Advaitist and yet I can support Dvaitism (dualism). The world is changing every moment, and is there fore unreal, it has no permanent existence. But though it is constantly changing, it has something about it which persists and it is therefore to that extent real. I have therefore no objection to calling it real and unreal, and thus being called an Anekaravadi or Syadvadi. But my Syadvad is not the Syadvad of the learned, it is peculiarly my own"

(*Gandhi* : 'Young India' Jan. 21,1926)

2. *Gandhi* : Young India, 9. 12. 1926.

आता है जब इनके कार्य की दिशाएँ केवल भिन्न ही नहीं वरन् परस्पर-विरोधी भी होती है। सच्चा उपयोगितावादी समाज के लिए कोई भी आत्मार्पण नहीं करता (किन्तु समाज के लिए आत्मार्पण करना अहिंसावादी का ध्येय है)।"[1]

'हिंसा नवजीवन' में भी वह अपने दृष्टिकोण के संबंध में लिखते हैं: "अहिंसा का पुजारी उपयोगितावाद (बड़ी-से-बड़ी संख्या का ज्यादा-से-ज्यादा हित) का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूत हिताय' यानी सबके अधिकतम लाभ के लिए प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में मर जाएगा। इस प्रकार वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सकें। दूसरो के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी आप मरकर करेगा। सबके अधिकतम सुख के भीतर अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, किन्तु अंत में ऐसा भी अवसर आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दशा में एक-दूसरे का विरोध भी करना होगा। तर्कसंगत बने रहने के लिए उपयोगितावादी अपने को कभी बलि नहीं कर सकता। अहिंसावादी हमेशा मिट जाने को तैयार रहेगा।"[2]

वास्तव में गांधीजी के लिए नैतिकता जीवन का स्रोत है। यहाँ तक कि व्यक्ति और समाज का अस्तित्व तथा विकास भी नैतिक पथ पर आधारित है। उनकी नैतिक विचारधारा का मूलतत्त्व है 'खुद की भलाई सबकी भलाई में है।' गांधीजी ने व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता पर सबसे अधिक बल दिया। इसके लिए उन्होंने एकादश व्रत—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिकश्रम, सर्वधर्म-समभाव, स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग आदि को चारित्रिक विकास लिए अनिवार्य बताया। इन सभी व्रतों में सत्य और अहिंसा ही चरम तत्व हैं तथा बाकी सभी व्रत इन दोनों से ही उद्भूत होते हैं और इन्हीं के सहायक है।

गांधीजी के विचार में ईश्वरानुभूति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। परन्तु यह ईश्वर की अनुभूति अमूर्त्त तत्व नहीं है। वह तो ऐसी यथार्थता या सत्य हैं, जो मनुष्य की अपनी आत्मा या दूसरों की आत्मा में निवास करता है। उनके अनुसार ईश्वरानुभूति को प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका है—स्वयं अपनी आत्मा या संपूर्ण मानवता की आत्मा में ईश्वर की अनुभूति करना। वास्तविक आत्मा या ईश्वर की अनुभूति का मार्ग दूसरों को प्यार करने में है। इस तरह प्रेम देने के लिए आवश्यक है कि दूसरों के प्रति प्रेम एवं कर्त्तव्य की भावना रखी जाए

1. वही।
2. गांधीजी : हिंदी-नवजीवन, ९.१२.१९२६।

और यही वास्तविक आत्मा या ईश्वर की अनुभूति का मार्ग है। इस प्रकार नैतिकता धर्म का सार तत्त्व बन जाती है।

गांधीजी के नैतिक विचारों को स्पष्ट करने के लिए उनकी नीति से संबंधित कुछ उक्तियों का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। अंत में उनके द्वारा बतलाए गए कुछ प्रमुख सद्गुणों की चर्चा की जाएगी, जो कि उनके द्वारा बतलाए गए एकादश व्रतों के प्रमुख अंग हैं।

गांधीजी की नीति-संबंधी कुछ प्रमुख सूक्तियाँ निम्नांकित हैं :

**१. लक्ष्य हमेशा आगे भागता जाता है** (The Goal ever recedes from us) :—यद्यपि गांधीजी हमेशा उच्चकोटि के आदर्शों में ही विश्वास करते थे तथापि वे सदा यह मानते थे कि आदर्श कभी भी पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस संबंध में वे शंकर के अद्वैतवाद के समान आशावादी नहीं थे अपितु अधिकांश पाश्चात्य विचारकों तथा ईश्वरवादियों के ही समान उन्होंने बार-, बार इस बात पर बल दिया कि इस मानव जीवन में पूर्णता की प्राप्ति असंभव है। ज्यों-ज्यों हम जीवन में आगे बढ़ते जाते हैं, लक्ष्य भी आगे बढ़ता जाता है। उनके अनुसार "कोई भी शरीरधारी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, मात्र इस कारण कि अहंकार का पूर्ण त्याग किए बिना आदर्श स्थिति संभव नहीं है; और जब तक वह हाड़-मांस-वाले शरीर से बँधा है, अहंकार का पूर्ण त्याग नहीं हो सकता। लक्ष्य हमेशा हमसे दूर भागता जाता है। जितनी ही प्रगति हम करते जाते है, उतनी ही अपनी अयोग्यता का भान होता जाता है। संतोष प्रयत्न में है, प्राप्ति में नहीं। पूर्ण प्रयत्न पूर्ण विजय है।"[1]

जीवन में पूर्णता नहीं प्राप्त होने पर भी हमारा प्रयास होना चाहिए कि जीवन में हम सदा आगे बढ़ते जाएँ। आदर्शों की अपूर्णता की आवश्यकता इसमें

---

1. "No one can attain perfection while he is in the body for the simple reason that the ideal state is impossible so long as one has not completely overcome his ego, and ego cannot be wholly gotten rid of so long as one is tied down by the shackles of the flesh···The goal ever recedes from us. The greater the progress the greater the recognition of our unworthiness. Satisfaction lies in the effort, not in the attainment. Full effort is full victory."

—*Bose, N.K.* **Selections from Gandhi** P. 9. & 30

निहित है कि इसकी वजह से हम जीवन में सतत सक्रिय रहते हैं तथा हमें सदा आगे बढ़ने एवं बड़े-से-बड़ा प्रयास करने की सतत प्रेरणा मिलती रहती है। उन्होंने आदर्शों की अपूर्णता की तुलना ज्यामिति के आकारों से की है। जिस प्रकार एक पूर्ण परिभाषा युक्त सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी हम सदा परिभाषा को मानकर रेखा बनाते रहते हैं; उसी प्रकार लक्ष्यों के भागते रहने से हमें सतत प्रयास भी जारी रखना चाहिए।

२. **एक कदम मेरे लिए काफी है** (One step enough for me) :—लक्ष्यों की प्राप्ति के निरंतर प्रयास में हमें चारों तरफ फैली हुई वर्त्तमान वास्तविकता को, जो हमें लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है, भूलना नहीं चाहिए। भविष्य अज्ञात है। हम केवल वर्त्तमान की ही, जो हमारे हाथ में है, निगरानी रख सकते हैं। अगर हम वर्त्तमान का अच्छी तरह उपयोग करें तभी भावी प्रगति को सुरक्षित रख सकते हैं। प्रत्येक पग रखने में हमें सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। इन बातों से उच्च आदर्श के साथ-साथ गांधीजी का व्यावहारिक यथार्थवाद भी स्पष्ट होता है। यही कारण है कि वे बार-बार अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी कहते थे—'I am a practical idealist'

3. **साधनों का सबसे बड़ा महत्त्व है** (As the means so the end) :—गांधीजी का विचार था कि साधन साध्य को पवित्र करता है। जैसा साधन होगा वैसा ही लक्ष्य प्राप्त होगा। अनैतिक साधन को अपनाकर हम कभी भी उच्च और पवित्र नैतिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। उपयोगितावादियों (बेन्थम, मिल, स्पेन्सर आदि) की विचारधारा, कि 'अंत भला तो सब भला' (The end justifies the means), का गांधीजी ने तीव्र विरोध किया था। उनका कहना था कि "ध्येय की सबसे स्पष्ट व्याख्या और उसकी कद्रदानी से भी हम उस ध्येय तक नहीं पहुँच सकेंगे, अगर हमें उसे प्राप्त करने के साधन मालूम नहीं होंगे और हम उनका उपयोग नहीं करेंगे। इसलिए मुझे तो मुख्य चिन्ता साधनों की रक्षा की और उनके अधिकाधिक उपयोग की है। मैं जानता हूँ कि अगर हम साधनों की चिन्ता रख सके, तो ध्येय की प्राप्ति निश्चित है। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि ध्येय की ओर हमारी प्रगति ठीक उतनी ही होगी, जितने हमारे साधन शुद्ध होंगे। यह तरीका लंबा, शायद हद से ज्यादा लंबा दिखाई दे, परन्तु मुझे पक्का विश्वास है कि यह सबसे छोटा है।"[1]

४. **अधिकार नहीं, कर्त्तव्य** (The true right is duty) :—गांधीजी अपने

1. गांधीजी : **सर्वोदय**, पृ० ६।

राजनीतिक कार्यक्रमों में लोगों को हमेशा उपदेश देते थे कि अधिकार की चिन्ता न कर हमें सच्ची निष्ठा से कर्त्तव्य करना चाहिए। उनका विचार था :

"अगर सब लोग केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्त्तव्यों पर जोर न दें, तो चारों तरफ बड़ी गड़बड़ी और अव्यवस्था फैल जाएगी। यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हरएक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य पालन करे, तो मानव-जाति में तुरंत व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जाए। यदि आप यह सादा और सार्वत्रिक नियम मालिकों और मजदूरों, जमींदारों और किसानों, राजाओं और उनके प्रजाजनों या हिन्दुओं और मुसलमानों पर लागू करें, तो आप देखेंगे कि भारत और संसार के दूसरे भागों में जीवन और व्यवसाय में आज जैसी अशान्ति और अस्तव्यस्तता पाई जाती है, उसके स्थान में जीवन के तमाम क्षेत्रों में अत्यन्त सुखद संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। जिसे मैं सत्याग्रह का कानून कहता हूँ, वह कर्त्तव्यों को पूरी तरह समझने और उनसे पैदा होनेवाले अधिकारों से उत्पन्न होगा।"[1]

५. **अपने को पहले सुधारो (Heal thyself)** :—इस कथन का गाँधीजी के लिए बड़ा महत्त्व है। कारण कि उन्होंने इसका व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में प्रयोग किया और इसे बड़ा लाभदायक पाया। उन्हें इसमें दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य तबतक दूसरों को नहीं सुधार सकता है जबतक वह अपने को पहले सुधार नहीं ले। उपदेश देने की अपेक्षा स्वयं उदाहरण पेश करना अधिक श्रेयस्कर है। जबतक व्यक्ति अपने दोषों को नहीं सुधारता, वह दूसरों में सुधार नहीं ला सकता। इसीलिए गांधीजी को जब कभी दूसरों को सुधारने की बात होती थी तब उनका प्रथम चरण होता था 'आत्म-विश्लेषण' और दूसरा 'आत्म-शुद्धि'। इस पद्धति का उन्होंने अपने राजनीतिक संघर्ष में भी प्रयोग किया। भगवान बुद्ध के ही समान उन्होंने भी भारत के दुःखन्दैन्य का अनुभव किया और इसकी जड़ को सांप्रदायिक विभिन्नता तथा निम्न वर्गों के प्रति सामाजिक अत्याचार, आत्म-निर्भरता की कमी, खासकर भोजन और वस्त्र की, उचित शिक्षा की कमी और सबके ऊपर शासकों के भय में पाया। इन राष्ट्रीय कमियों को दूर करने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किया। इसके लिए उन्होने देश के विभिन्न हिस्सों में रचनात्मक काम किए। इस प्रकार उनके राजनीतिक कार्यक्रम केसाथ-साथ व्यक्तिगत और सामाजिक आत्म-शुद्धि के लिए रचनात्मक प्रयास भी चलते रहते थे।

जैसा गांधीजी के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है, वे किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चारित्रिक पवित्रता पर बड़ा बल देते थे। यहाँ तक कि उन्होंने प्रत्येक

---

1. वही, पृ० ७।

सत्याग्रही के लिए एकादश व्रतों का पालन अनिवार्य बतलाय था। इन व्रतों को बाद में चलकर उन्होंने 'अनासक्तियोग' के नाम से भी पुकारा था। इन सभी व्रतों का विस्तृत वर्णन उनके द्वारा लिखी **सर्वोदय** नामक पुस्तक में उपलब्ध है। आज की बदलती राजनीतिक संकटकालीन परिस्थितियों में तो गांधीजी के बतलाए नैतिक मार्ग पर चलने की सबसे अधिक आवश्यकता है।

*　　　*　　　*

## (घ) आचार्य विनोबा भावे : साम्ययोग

महात्मा गाँधी के दो प्रमुख शिष्य थे—एक कुशल राजनीतिज्ञ पंडित जवाहरलाल नेहरू और दूसरे तपस्वी, संन्यासी और कर्मयोगी आचार्य विनोबा भावे। प्रस्तुत अध्याय में मैं विनोबा के सर्वोदय-संबंधी नैतिक विचारों का उल्लेख करूँगा।

सर्वोदय विचारधारा महात्मा गांधी की ग्राम-राज्य की कल्पना को साकार करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है। गांधीजी आजीवन वर्ग-भेद, जात-पाँत और ऊँच-नीच के भेद-भाव को जड़ से मिटाने की कोशिश करते रहे। उनका विचार था कि धन के समान वितरण के लिए उनके नीतिशास्त्र में ट्रस्टीशिप से अच्छा कोई दूसरा विकल्प अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। विनोबा का भूदान-यज्ञ इसी गांधी-विचारधारा की परिणति हैं। भूदान के साथ ही संपत्ति-दान, श्रमदान, ग्राम-दान और जीवन-दान के आंदोलन हैं। समानता के आधार पर एक नए समाज की रचना करना इनका स्वप्न है।

महात्मा गांधी के निधन के लगभग दो महीने पूर्व विनोबाजी की प्रेरणा से वर्धा में एक सभा में सर्वोदय-समाज को स्थापित करने का निश्चय किया गया। इस आदर्श की पूर्ति के लिए 'सर्व-सेवा-संघ, नामक संस्था की भी नींव पड़ी। और तभी उन्होंने एक शोषण-विहीन स्वावलंबी समाज की रचना की कल्पना की। इस लक्ष्य की पूर्ति एवं प्रचार के लिए उन्होंने पूरे देश-भर की पैदल यात्रा की और लोगों को भूदान-यज्ञ से परिचित कराया। उन्होंने भूदान-यज्ञ प्रारम्भ किया और इस यज्ञ का श्रीगणेश तेलंगाना के श्री रामचन्द्र रेडडी ने अपनी १०० एकड़ जमीन देकर किया। इसके बाद तो भूदान का ताँता लग गया। करोड़ों एकड़ जमीन मिली और वह गरीबों में बाँट दी गई। भूदान और उससे बाद ग्राम-दान-जिला-दान और अब प्रांत-दान तक की योजना बनने लग गई है।

सर्वोदय-विचारधारा के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और अब इसका विस्तृत साहित्य भी सर्वत्र उपलब्ध है। सूत्र में उन्होने **साम्यसूत्र** तथा

**साम्ययोग और सामूहिकता** में सुन्दर ढंग से अपनी सर्वोदय-संबंधा विचारधारा को व्यक्त किया है। यहाँ हम इन्हीं दो पुस्तकों के मूलभूत विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

'सर्वोदय' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वयं विनोबा ने 'हरिजन' नामक पत्रिका में लिखा है कि "भारत के गाँवों को स्वावलंबी बन जाना चाहिए और उन्हें जहाँ तक संभव हो, कीमतों के उतार-चढ़ाव से बचा लेना चाहिए। जरूरी कच्चा माल गाँव में ही पैदा होता हो, तो उन्हें अपने ही गाँव में अपनी जरूरत का पक्का माल तैयार कर लेना चाहिए। यंत्रों पर सारे समाज का अधिकार होना चाहिए। उत्पादन और अंतिम वितरण के बीच में कोई दलाल नहीं होना चाहिए। अहिंसा के आधार पर खड़ा समाज बीच के दलालों की मार्फत काम नहीं कर सकता। सबको खाना मिलना चाहिए और सबको काम करना चाहिए। राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था की योजना सम्मिलित परिवार के ढंग पर होनी चाहिए। अगर चरखे से सबको काम मिल सके, तो उसे काम में लेना चाहिए। अगर आप सारे राष्ट्र के लिए योजना नहीं बना सकते और आपको भेद-भाव करना पड़े, तो उस सूरत में मैं अपने को साम्यवादी मानकर कहता हूँ कि अपनी योजना बनाने में आपको गरीबों के पक्ष में भेद-भाव करना चाहिए। संक्षेप में सर्वोदय की मेरी रूप-रेखा यही है।'[1]

सर्वोदय की योजना एवं उसके आदर्श को स्पष्ट करते हुए श्री कि० घ० मशरूवाला ने २७ अक्टूबर १९५१ के 'हरिजन' में प्रकाशित एक लेख में लिखा था :

(१) जीवन के प्रति आदर सर्वोदय का पहला सिद्धान्त है। इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत के विकास का अर्थ मुख्यत: यह है कि भारत के प्राणियों—मानव और पशु दोनों—के जीवन और व्यक्तित्व का स्वस्थ और सर्वांगीण विकास हो।

(२) इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राकृतिक साधन अत्यन्त जरूरी हैं; इसलिए उनके विकास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु जीव और प्रकृति के बीच यह भेद होगा कि जीवन का विकास साध्य रहे और प्रकृति का विकास साधन हो। जीव को हानि पहुँचाकर प्रकृति का विकास नहीं होना चाहिए और प्रकृति के साधनों का अपव्यय भी नहीं होना चाहिए। इस अर्थ में मूक और निर्जीव प्रकृति का भी 'शोषण' या दुरुपयोग नहीं किया जा सकता।

(३) इसलिए प्रत्येक समाज और राज्य का पहला काम यह होना चाहिए कि उसकी सीमा में रहनेवाले हरएक आदमी को वह काम दे। काम हर एक को

1. **'हरिजन'** २-८-५२ से उद्धृत; गांधीजी : **सर्वोदय**, पृ० २०६-७।

उसकी योग्यता के अनुसार और तुरंत उपलब्ध साधनों के द्वारा प्राप्त होना चाहिए। उसके लिए और उसकी मदद से काम और साधनों में उत्तरोत्तर सुधार होते रहना चाहिए। परन्तु उसका लक्ष्य व्यक्ति का विकास होगा और उसके सहयोग से ही उसका संपादन करना होगा। यह उन्नति उसी हद तक जरूरी और उचित है जिस हद तक वह प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का साधक हो, यानी सर्वोदयकारी हो।

(४) जीवन-स्तर और रहन-सहन के स्तर में भेद करना चाहिए। बुनियादी वस्तु पहली है, न कि दूसरी। रहन-रहन का स्तर ऊँचा हो जाने से जीवन का स्तर नीचा भी हो सकता है; क्योंकि संभव है इससे मनुष्य के शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक मापदंड और शक्तियाँ घट जाएँ।

(५) योजना का काम दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर होना चाहिए : मनुष्य के विकास के मार्ग से प्राकृतिक या मानव-कृत बाधाएँ दूर करना और उसके लिए साधन, प्रशिक्षण और पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था करना।

(६) मनुष्य के विकास में आनेवाली बाधाओं को दूर करने का प्रयत्न।

(७) जीवन के विकास में आनेवाली बाधाओं को दूर करने में अगर सरकार समर्थ न हो तो लोगों को धीरे-धीरे ही, जीवन में उन्नति करनी चाहिए। रचनात्मक कार्यो द्वारा इसकी पूर्ति की जा सकती है।[1]

सर्वोदय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वयं विनोबाजी ने साम्ययोग में ही लिखा है कि "सर्वोदय-समाज बहुसंख्यकों का ही नहीं, सारे समाज का हित चाहता है।"[2]

आज विश्व में मुख्यत; तीन प्रवृत्तियाँ हैं—पूँजीवाद, लोकशाही-समाजवाद और साम्यवाद। साम्यवाद का दावा है कि वह सबको समान भाव से जीवन की सब चीजें सुलभ कर देना चाहता है। वर्ग-संघर्ष को खतम किए बिना और जिनके हाथ में सत्ता है, उन्हें खतम किए बिना चारा नहीं। इतनी हिंसा वांछनीय है और धर्म-रूप है। इससे स्पष्ट है कि इस विचार से दुनिया में शांति संभव नहीं है; क्योंकि हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है, भले ही कुछ समय के लिए वह दबी रहे। इसके कारण तो मानवता मूल्य घट जाता है, मनुष्यता की प्रतिष्ठा घट जाती है। इसीलिए विनोबाजी का कहना है कि साम्यवाद की अपेक्षा साम्ययोग श्रेयस्कर है। साम्ययोग का विश्वास है कि हर एक मानव में एक ही आत्मा समान रूप से विद्यमान है। साम्ययोग मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता।

---

1. 'हरिजन, २७-१०-१९५१।
2. विनोवा : साम्ययोग, पृ० २०९।

इतना ही नहीं, मानव-आत्मा और प्राणि-मात्र की आत्मा में भी बुनियादी भेद नहीं करता। फर्क इतना ही मानता है कि मानव की आत्मा में जो विकास संभव है, वह दूसरे प्राणियों की आत्मा में नहीं है। मनुष्य में भी सबका विकास समान नहीं होता, फिर भी शिक्षण से विकास संभव है। लेकिन मनुष्य से भिन्न प्राणियों में शिक्षण के बावजूद विकास संभव नहीं है। संपूर्ण सृष्टि-मात्र में एक आत्मा का अधिष्ठान है, इसलिए जहाँतक हो सके, हमें प्राणिमात्र की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

साम्यवाद और साम्ययोग में महान् अन्तर है। साम्यवाद आत्मा की एकता को नहीं मानता, जबकि साम्ययोग उसे मानता है। इतना ही नहीं, यह आत्मा की एकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गहराई में भी जाना चाहता है। इसी प्रयास के कारण नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इस विचारधारा के क्रान्तिकारी परिणाम हैं। साम्ययोग का आदर्श है—

"सब भगवान का = सब समाज का।"

विनोबाजी का विचार है कि जब जीवन की विभिन्न शाखाओं पर गहराई से विचार करते है तब मालूम पड़ता है कि अपनी बुद्धि-शक्ति के मालिक हम नहीं, भगवान हैं। वे लिखते हैं :

"हमें चाहिए कि जो शक्तियाँ हमारे पास हैं, उन्हें हम ईश्वर की देन मानकर समाज को अर्पण कर दें। हम तो अपने शरीर के भी मालिक नहीं, इसके ट्रस्टी-मात्र हैं। साम्ययोग कहता है कि संपत्ति किसी रूप में भी क्यों न हो हम उनके मालिक नहीं हैं। साम्ययोग और साम्यवाद में यही बड़ा भारी फर्क है। अबतक लोग अपने को संपत्ति का मालिक मानते आए हैं। इससे हित-विरोध का निर्माण होता है। किन्तु जहाँ ट्रस्टीशिप का विचार आता है, वहाँ पूरी वैचारिक क्रान्ति हो जाती...'सारे समाज को अपना स्वार्थ अर्पण कर देना और समाज के हित के लिए सतत प्रयत्न करना ही मेरा स्वार्थ है'—यह है नैतिक विशेषता, जो साम्ययोग से निर्मित होती है।"[1]

साम्ययोग नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में परिवर्त्तन लाना चाहता है। इन परिवर्त्तन को वह क्रान्ति की संज्ञा देता है। यद्यपि आजकल क्रान्ति से लोग हिंसायुक्त रक्तपात ही समझते हैं, तथापि साम्ययोग के संदर्भ में क्रान्ति का अभिप्राय—बुनियादी चीजों में आमूल परिवर्त्तन है। नैतिक जीवन में परिवर्त्तन ही क्रान्ति है। साम्ययोग का दावा है कि वह

1. विनोबा : **साम्ययोग**, पृ० २१२।

नैतिक मूल्यों में परिवर्त्तन करता है; क्योंकि यह विचारधारा तो वास्तव में नैतिक एवं आध्यात्मिक बुनियाद पर ही टिकी हुई है। नैतिक मूल्यों में परिवर्त्तन करने से आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी आवश्यक रूप से परिवर्त्तन हो जाएगा।

आर्थिक क्षेत्र में साम्ययोग का प्रयास है गाँव-गाँव को संपूर्ण स्वावलंबी बनाना। प्राथमिक आवश्यकताओं की सभी चीजें हर गाँव में पैदा हों जिससे हर गाँव स्वयं पूर्ण बन जाए। बुनियादी चीजों की प्राप्ति हर गाँव में करना इसका उद्देश्य है। आर्थिक क्षेत्र में पूर्णतः विकेन्द्रित योजना साम्ययोग का लक्ष्य है। अगर आर्थिक क्षेत्र में इस तरह का परिवर्त्तन नहीं किया जाएगा तो परावलंबन उत्पन्न होगा और इस प्रकार एक आत्मा दूसरी आत्मा का गुलाम बनेगी। साम्ययोग की तो यहाँ तक मान्यता है कि शारीरिक काम की अपेक्षा बौद्धिक काम की मजदूरी ज्यादा देना गलत है। इस तरह का फर्क बेबुनियाद है। इस साम्ययोग की बुनियाद आत्मा की समता पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति हरएक काम नहीं कर सकता। इसलिए हरएक की सामाजिक सेवा भिन्न प्रकार की होगी, पर उसका आर्थिक मूल्य समान ही होना चाहिए।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-भेद, वर्ण-भेद और ऊँच-नीच का भेद-भाव समाप्त करना इसका ध्येय है। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार काम मिले। परन्तु, योग्यतानुसार भिन्नता होते हुए भी एक को दूसरे से बड़ा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी वजह से साम्ययोग मेहतर, चमार और भंगी को उच्च वर्गों के लोगों से भिन्न नहीं मानता। बल्कि वास्तविकता तो यह है कि निम्न वर्गों के बिना समाज का काम नहीं चल सकता।

साम्ययोग के आध्यात्मिक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए रत्नगिरि में एक बार विनोबाजी ने कहा था :

"वैसे पारमार्थिक साम्य ही हमारा मूल सिद्धान्त है। उसीकी बुनियाद पर आर्थिक साम्य लाने की प्रक्रिया उठाना ही हमारी प्रक्रिया होनी चाहिए। जाति-भेद आदि छोटे-मोटे भेद आर्थिक समता से ही मिटेंगे। अक्सर गाँव के मन्दिरों के प्रति गाँववालों को निष्ठा होती है। लेकिन, अब उनसे कहना होगा कि ग्राम को ही देवता मानें और अपना सर्वस्व उसे समर्पण करें। भगवान श्रीकृष्ण ने यही किया। आर्थिक समता की दृष्टि रखकर काम करने से धर्म को विशुद्ध रूप प्राप्त होगा। यह एक रचनात्मक मार्ग है। इस पद्धति से काम किया जाए तो रुकावटें दूर होंगी, झगड़े पैदा नहीं होंगे और विचार को नया रूप प्राप्त होगा।"[1]

1. विनोबा : **साम्ययोग और सामूहिकता, पृ० २२१।**

स्वराज्य के आदर्श के संबंध में विनोबाजी का विचार है कि "एक जमाना था, जब भारत में 'अंग्रेजों का राज' कहा जाता था। अब 'दिल्ली का राज' कहा जाने लगा है। पर स्वराज्य तो तब होगा जब कोई कहेगा कि 'मेरा राज' है। सारी कोशिश दुनिया को निर्भय बनाने की हो रही है। जिस दिन वह निर्भय बन जाएगी, उसी दिन उसे समाधान मिलेगा, और कशमकश मिटेगी।"[1]

साम्ययोग के नैतिक पक्ष के संबंध में विनोबा का कहना है कि सामूहिक प्रार्थना अधिक प्रेरणादायक है, यद्यपि एकान्त प्रार्थना से उसे प्रेरणा मिलती है। पर आज के युग में "सामूहिक प्रार्थना से जितनी प्रेरणा मिलती है, उतनी व्यक्तिगत प्रार्थना से नहीं; यद्यपि हृदय-परीक्षण के लिए व्यक्तिगत प्रार्थना की भी जरूरत है।...आज समाज-निष्ठा की माँग है और समाज को जितना दे सकें, देने की भूख है।"[2]

साम्ययोग कैसे सधेगा ? अर्थात् साम्ययोग की प्राप्ति के साधन क्या हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विनोबाजी का मत है कि साम्ययोग का आधार 'अनुराग और 'विश्वास' है। जबतक ये दोनों शक्तियाँ प्रकट नहीं होंगी, तबतक साम्ययोग का स्वप्न पूरा नहीं हो सकता है। 'योग' साधना की चीज है। हमें साम्य की साधना करनी होगी। अगर हमें अपने कार्यकर्त्ताओं के प्रति उत्कट अनुराग और विश्वास नहीं रहे तो साम्ययोग प्रवचन-मात्र ही रह जाएगा। कार्यकर्त्ताओं के दोषों की ओर ध्यान न देकर गुणों की ओर ध्यान देना होगा। दोष देखना तो एक-दूसरे की टाँग खींचना होगा। दोष तो मानव कमरे की दीवार के समान है। उससे टकराने पर सिर हीं फूटेगा और गुण तो दरवाजे के समान हैं, जो हमें प्रकाश भी देता है और मार्ग भी। इसलिए हममें परस्पर अनुराग और विश्वास की शक्ति बढ़नी चाहिए। प्रेम की शक्ति सबको परमेश्वर ने दी है। जिसने प्रेम पाया, वह प्रेम कर भी सकता है। प्रेम-शक्ति से यदि हम काम लें, तो सब शक्तियों की मदद हमें मिलेगी। प्रेम की शक्ति ऐसी है कि हर कोई मदद कर सकता है। गरीब, धनी, बलबान, दुर्बल सबको इसमें मदद मिल सकती है। विनोबा की राय में प्रेम की शक्ति में तीन बातें हैं—

(१) गाँव में सत्ता विभाजित हो।
(२) भूमि, जायदाद, संपत्ति, सबपर सबका हक हो।
(३) वेतन, परिश्रम आदि के श्रेणी-भेद न रहें।

---

1. वही, पृ० २३०।
2. वही, पृ० २३१-३२।

विनोबा के अनुसार इसकी शुरुआत भूदान से है और यह सब जन-शक्ति से करना है, यही साम्ययोग है।[1]

विनोबा के विचार में साम्ययोग की सिद्धि में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्ति के द्वन्द्व। उनकी राय में ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्ति के विकास के लिए सबको समान अवसर नहीं मिलता। दुनिया में प्रायः देखा जाता है कि जिनमें ज्ञान-शक्ति का विकास है, वे शारीरिक श्रम नहीं करते और इस प्रकार वे पंगु हो गए हैं। धूप, बारिश, ठंढ़ा आदि को सहने की उनमें शक्ति नही है। वास्तव में ज्ञान-शक्ति और कर्म-शक्ति के विकास के लिए सबको समान अवसर मिलना चाहिए। इसी को साम्ययोग कहते हैं।[2]

विनोबा की सबसे बड़ी देन सर्वोदय-समाज की रचना की कल्पना है, जिसकी आधार-शिला साम्ययोग है। साम्ययोग सर्वोदय की तत्त्व-मीमांसक पृष्ठभूमि है। इसलिए यहाँ सर्वोदय के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

**सर्वोदय के नैतिक आधार :**

सर्वोदय-विचारधारा को किसी नैतिक सिद्धान्त के अंतर्गत रखा जाए—यह एक विचारणीय प्रश्न है; क्योंकि इसका स्वरूप उपयोगितावादी (**Utilitarian**) तथा आत्म-पूर्णतावादी (**Self-realisation**)—दोनों ही विचारधाराओं से मिलता-जुलता है। स्वयं विनोबा ने अपनी विचारधारा को 'साम्ययोग' कहा है। इसलिए इसे साम्ययोग ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

सर्वोदय की मौलिक मान्यता है कि संसार की सभी सृष्टियों में तथा खासकर सभी जीवों के विकास-क्रम में मनुष्य सर्वोत्तम जीव है। वह सृष्टि का प्रतीक है, सदगुणों का साक्षात् स्वरूप है तथा सत्य, शिवं और सुन्दरम् की प्रतिमा है। इस प्रकार यदि हम स्वीकार करें कि सभी जीवों में मनुष्य महान् है, तो मनुष्य का भी यह कर्त्तव्य है कि वह सभी जीवों को समान समझे। और समानता की यह भावना हमारी अभिरुचि का प्रश्न नहीं है, बल्कि इसे हमें मौलिक अधिकार समझना चाहिए। इस प्रकार सर्वोदय साम्यवादी सिद्धान्त से भी कुछ समानता रखता है। सर्वोदय मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि विभिन्न पक्षों पर एक नवीन प्रकाश डालने का प्रयास करता है। सामान्य तौर पर सर्वोदय का अर्थ लगाया जाता है कि यह वह सिद्धान्त है, जिसके द्वारा सबका समान रूप में अभ्युदय संभव है।

---

1. वही, पृ० २३६।
2. वही, पृ० २३७।

सामाजिक दृष्टि से सर्वोदय एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसका विश्वास है कि हमें एक ऐसे समाज का निर्माण करना है, जो शोषण-रहित समाज हो। ऐसा समाज बने, जिसमें शोषक और शोषित, धनी और गरीब, ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं हो। अर्थात् सभी को समान रूप से विकसित होने का मौका मिले। ऐसे समाज की रचना करना ही सर्वोदय का उद्देश्य है।

आर्थिक दृष्टि से सर्वोदय एक ऐसा सिद्धांत है, जो समान लाभ के सिद्धांत को बतलाता है।

धार्मिक दृष्टि से सर्वोदय वह सिद्धांत है, जो अद्वैत वेदान्त के महत्तम सत्य अर्थात् **'तत् त्वमसि'** की शिक्षा से प्रभावित है। सर्वोदय धर्म के रागात्मक पक्ष पर अधिक बल देता है—"मनुस्मृति पर आधारित भक्ति ही सर्वोदय धर्म का आदर्श तत्त्व है। भक्ति कोई मानसिक स्थिति नहीं है। यह एक संवेगात्मक अनुराग है एवं अपनी आत्मा की परमानंददायक अभिव्यक्ति है। आत्मा-इच्छा एवं क्रियाशीलता सर्वोदय-रूपी धार्मिक चेतना के अनिवार्य तत्त्व है। विनोबा के अनुसार परंपरागत रूढ़ियों के प्रति अविवेकपूर्ण आत्म-सकर्पण या धार्मिक एवं शास्त्रीय क्रिया में विश्वास धर्म नहीं है। यह सर्वाधिक सत्य, प्रेम एवं न्याय-संबंधी प्रधान मूल्यों में पूर्ण एवं जीवित विश्वास है।"[1]

नैतिक दृष्टि से सर्वोदय वह सिद्धांत है, जो विश्व में अभी तक पाए जानेवाले सभी नैतिक सिद्धांतों से एक उत्तम विचार प्रस्तुत करता है। नीति-शास्त्र के जितने भी प्रश्न हो सकते है या है, उन सभी प्रश्नों के उत्तर हम सर्वोदय में एक नवीन पक्षपात-रहित आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संदर्भ में पाते है।

सर्वोदय के नैतिक विचार को उसके मानव-संबंधी विचारों से अलग नहीं किया जा सकता है। सर्वोदय के क्रान्तिकारी अग्रदूत विनोबा के विचार बहुत

---

1. "Bhakti based on Manusmriti is the ideal content of Sarvoday religion. Bhakti is not a mental state. It is an emotional attachment and an ecstatic expression of self. Self-will and Activity is the essential element of Sarvodaya religious consciousness. For Vinoba, religion is not a sightless subscription to traditional dogmas of heedless conformity to pristine and ancient rituals. It is above all an abiding and a living faith in the three cardinal values of Truth, Love and Justice."

(*V. Narayan Karan Reddy* :**Sarvodaya Ideology & Acharya Vinoba Bhave, p. 74.**)

अद्वैतवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित मालूम पड़ते हैं। उनके अनुसार सर्वोदय के दो नैतिक आदर्श हैं :

(i) वैयक्तिक नैतिकता (**Personal Morality**);

(ii) सामाजिक नैतिकता (**Social Morality**)।

जहाँ तक वैयक्तिक नैतिकता का प्रश्न हैं, सर्वोदय का विचार है कि आत्म बोध ही वैयक्तिक नैतिकता है। सामाजिक नैतिकता समाज-सेवा है। सर्वोदय-वादियों का यह विचार है कि हरएक व्यक्ति के जीवन में कोई-न-कोई नैतिक आदर्श अवश्य रहता है और उसी आदर्श की प्राप्ति के लिए हर एक व्यक्ति के जीवन में कोई-न-कोई नैतिक आदर्श आवश्यक रहता है और उसी आदर्श की प्राप्ति के लिए हरएक व्यक्ति अपने जीवन में प्रयास करता है। परन्तु मनुष्य नैतिक आदर्श को वास्तविक जीवन में कभी भी पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर सकता। ज्यों-ज्यों हमारा नैतिक जीवन परिपक्व होता जाता है, हमारा नैतिक आदर्श भी आगे भागता जाता है। इस प्रकार नैतिक आदर्श के दूर भागते रहने से जीवन में एक लाभ यह होता है कि हमारे अंतस्तल में नैतिक चेतना को प्राप्त करने के लिए एक नैतिक शक्ति उत्पन्न होती रहती है। इस प्रकार महात्मा गांधी और विनोबा के नैतिक आदर्श में किंचित् अंतर हैं। गांधीजी के अनुसार नैतिकता जीवन का स्रोत है तथा मानव का अस्तित्व और उसकी प्रगति, उसकी नैतिक आत्मा के ऊपर निर्भर करती है।

"गांधीवादी विचारधारा के अनुसार नैतिकता एक आदर्श एवं जीवन-पद्धति दोनों है। इसके विपरीत सर्वोदय विचारधारा में नैतिकता एवं नैतिक आदर्श कभी भी दो पृथक तत्त्व नहीं है।"[1]

विनोबाजी नैतिक जीवन और नैतिक आदर्श में भेद नहीं करते। वे दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू समझते हैं। सर्वोदय के समर्थक यह स्पष्ट रूप में स्वीकार करते है कि वैयक्तिक नैतिकता के लिए, जिसके द्वारा हम जीवन और आचरण को पवित्र करते हैं, तपस्या ही एकमात्र साधन है। इस स्थल पर सर्वोदय बौद्ध और जैन-दर्शन के नैतिक विचार से प्रभावित मालूम पड़ता हैं। जिस प्रकार जैनियों के अनुसार हम जीव को पञ्चमहाव्रतों के द्वारा मोक्ष के योग्य बना सकते

---

1. "Morality is both an ideal and a way of life in Gandhian ideology. On the other hand, the moral being and the moral ideal are never two separate entities in Sarvodaya ideology."

(वही, पृ०५८)

हैं, उसी प्रकार सर्वोदय भी यह स्वीकार करता है कि सत्य, अस्तेय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के द्वारा व्यक्तिगत पवित्रता प्राप्त की जाती है।

जहाँतक सामाजिक नैतिकता का प्रश्न है, सर्वोदय का उत्तर है कि त्याग द्वारा सामाजिक नैतिकता की प्राप्ति हो सकती है। सामाजिक नैतिकता को प्राप्त करने के लिए सर्वोदय के समर्थकों ने समाज-सेवा के लिए एक बहुत ही क्रान्तिकारी योजना बनाई है। और, इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सर्वोदय का नैतिक आधार बर्गसाँ (Bergson) कि पुस्तक 'The two Sources of Morality and Religion के विचार से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। बर्गसाँ ने यह स्वीकार किया है कि प्रथम कोटि कि नैतिकता सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में निहित हैं और दूसरी कोटि की नैतिकता मनुष्य कि प्रतिभा एवं उसकी अंतदृष्टि में अभिव्यक्त होती है।[1]

इस स्थल पर सर्वोदय एवं साम्यवाद के नैतिक विचारों में अंतर बतला देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

मार्क्सवाद और सर्वोदय की विचारधाराओं में बाहर से देखने पर बहुत-कुछ समानता मालूम पड़ती है। विनोबा के पहले पाश्चात्य देशों में मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर समाज में समानता लाने के लिए साम्यवाद का प्रचार किया था। सर्वोदय भी एक वर्गहीन, जातिविहीन और शोषणविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन और अवसर मिलें। इसका विश्वास है कि अहिंसा और सत्य द्वारा यह क्रान्ति संभव है। सर्वोदय इसी का प्रतिपादन करता हैं। अतः मार्क्सवाद और सर्वोदय के सिद्धान्तों में महत्त्वपूर्ण अंतर है। जहाँ मार्क्स ने अपने समय में वर्ग-नैतिकता (Class-morality) की शिक्षा दी, वहाँ विनोबा ने एक रचनात्मक नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। यदि मार्क्स के विचार विषेश रूप से राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति से संबंधित हैं तो दूसरी तरफ विनोबा के विचार मानव-मात्र की समानता पर आधारित हैं। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक एवं नैतिक या मानव के अन्य जितने भी पक्ष हो सकते हैं, सभी पक्षों को एक समान धरातल पर लाने का प्रयास सर्वोदय का नैतिक प्रयास है। साम्यवाद के मत में आर्थिक

---

1. "The first type of morality is rooted in the needs of sccіety and the second type of morality is the experssion cf man's genius and insight as a voluntary act of goodness and kindness towards others."

(वही, पृ० ६१)

समानता का साधन क्रान्ति है—'क्रान्ति हमारा नारा है'। परन्तु सर्वोदय के समर्थक शान्ति एवं विचार-विमर्श को सामाजिक समानता के लिए मौलिक साधन स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार सर्वोदय की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है। साम्यवादियों की तरह यह नहीं मानता कि क्रान्ति के लिए हिंसा के साधनों से काम लेना ही चाहिए, हिंसा के बिना क्रान्ति हो ही नही सकती। इसके विपरीत सर्वोदय की तो मान्यता है कि भारत-जैसे देश और जनतंत्रात्मक राज्य में हिंसक साधनों का अवलंबन किए बिना केवल बैलट-बॉक्स के बल पर राज्यक्रान्ति की जा सकेगी। सर्वोदय अपने विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आत्म-पवित्रता पर सबसे अधिक बल देता है। यह मानता है कि मनुष्य का सर्वोत्तम आदर्श है—अपने को पवित्र करना और उसके बाद संपूर्ण मानव-समाज को पवित्र करना।[1]

मार्क्स की संपूर्ण ऐतिहासिक, सामाजिक एवं जैवी विकास की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है, जबकि विनोबा का साम्ययोग तीन प्रतिक्रियाओं—भौतिक समृद्धि, मानवीय चेतना तथा सामाजिक शुभ (Material wealth, Auman consciousness and Social good)—पर आधारित है, जिससे एक परार्थवादी संश्लिष्ट सामाजिक दर्शन का जन्म होता है। इस प्रकार साम्ययोग की अर्थनीति सरल सामाजिक द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, बल्कि एक जटिल प्रगतिशील सामाजिक प्रक्रिया पर आधारित है, जो प्राय: सभी पूर्व-सिद्धान्तों की परिणति है। साम्ययोग सामाजिक विकास की प्रक्रिया में भूदान का आधार केवल मानव-प्रेम ही नहीं, एक ऐतिहासिक अनिवार्यता भी है।

सर्वोदय मानव-भावना से परे का चिन्तन नहीं है। यह मनुष्य को भी तत्त्वों का मर्मस्थल मानता है। यह अनिवार्यत: मानवीय आदर्शों या पुरुषार्थों की प्राप्ति के साथ-साथ ईश्वर-प्राप्ति की ओर भी संकेत करता है। इस विचारधारा में मार्क्स की तरह धर्म को समाज का विष न मानकर, धर्म, अर्थ, काम और

---

1. "The insistence of Sarvodaya on self-purity through Yoga is indeed a unique contribution to modern social and moral thought. That the ultimate ideal of man is to perfect himself with a sole view of derfecting the world, forms the cardinal belief of Sarvodaya worker. The need for universal unity of all and that our moral and religious duties are towards all etc. is deeply felt by Sarvodaya."

(वही, पृ० ६२)

मोक्ष—सभी आदर्शों की पूर्त्ति को समान महत्त्व दिया गया है। इसीलिए सर्वोदय को एक पूर्ण दर्शन कहा जाता है, जिसमें जीवन-दर्शन और विश्व-दर्शन के बीच संतुलन की शिक्षा दी गई है।

कि० घ० मशरूवाला ने 'हरिजन' के ५ जून, १९४९ के अंक में प्रकाशित एक लेख में साम्यवाद और सर्वोदय के भेद को बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"साम्यवाद और सर्वोदय में साध्य का भेद नहीं, साधनों का भेद है। गांधीजी स्वयं कई बार कह चुके हैं कि मैं हिंसा-रहित साम्यवादी हूँ। उन्होंने यह कहकर उस भेद को स्पष्ट भाषा द्वारा प्रकट कर दिया है कि मैं साम्यवाद का विचार नहीं करता, परन्तु साम्यधर्म का प्रचार करता हूँ। अपने जीवन के अंत तक उनका प्रयत्न इस धर्म का पालन करने का रहा। उन्होंने नीचे-से-नीचे वर्ग के भारतीयों के साथ एकता साधकर रहने की कोशिश की।...अगर अहिंसा और शरीर-श्रम को साम्यवादी आन्दोलन का अंग मान लिया जाए, तो उनके साथ झगड़े का कोई कारण नहीं रह जाता। साम्यवाद के प्रति सहानुभूति होने का परिणाम यह होना चाहिए कि सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में साम्यवादी लोग जो परिवर्त्तन हिंसा द्वारा करना चाहते हैं; उन्हीं के लिए हम उचित अहिंसक उपाय ढूंढ़ें।"[1]

इसलिए विश्व की आधुनिकतम नैतिक विचारधाराओं में तथा विश्व-शान्ति के विभिन्न प्रयासों में सर्वोदय ने सर्वाधिक योगदान किया है। सर्वोदय का नारा है **'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'**। सर्वोदय की भूमिका को स्पष्ट करते हुए टी० एम० पी० महादेवन ने एक स्थल पर लिखा है कि परमाणु-युग में सर्वोदय को छोड़कर दूसरा कोई विकल्प भी नहीं है।[2]

---

1. गांधी : **सर्वोदय**, पृ० १८६।

2. "Sarvoday stands for co-sharing and co-operation instead of mad race for accumulation through competetion and aggression, for peaceful and non-violent progress instead of chaotic existence under the constant threat of dread destruction Sarvodaya is the gospel of wholeness, and in the Space-Age, there is no real alternative to it."

(*N. Karan Reddy* : **Saryodaya** Introduction )

## (ङ) श्री मानवेन्द्रनाथ राय (१८८७—१९५४)

**आमूलात्मक मानवतावाद (Radical Humanism):**

साम्यवाद के विकास एवं प्रसार में जिन चिन्तकों ने योगदान किया है, उनमें श्री मानवेन्द्रनाथ राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। महान् साम्यवादी नेताओं (विशेषकर लेनिन और स्तालिन) ने मार्क्सवाद को विकृत कर साम्यवाद का नाम दे दिया था, जिसकी प्रतिक्रिया में श्री मानवेन्द्रनाथ राय ने आमूलात्मक मानवतावाद या नव-मानवतावाद (Radical Humanism or New Humanism) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। समकालीन युग के भारतीय दार्शनिकों में श्री राय बड़े ही उग्र प्रकार के अनुभववादी एवं भौतिकवादी चिन्तक है। चार्वाक के बाद श्री राय ही ऐसे भारतीय दार्शनिक हैं, जिनके अनुसार मनुष्य का सार ज्ञान, चाहे वह वैज्ञानिक हो, धरात्मक हो या गणित-विज्ञान का हो (Conceptual or Mathematical), सब अनुभवजन्य है।

श्री राय ऐसे दार्शनिकों में से हैं, जिन्होंने न तो कभी किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई और न किसी विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के व्यावसायिक शिक्षक या विद्यार्थी रहे। इससे भी आश्चर्य की बात है कि बहुत हाल तक उनकी रचनाओं एवं विचारों के प्रति दार्शनिकों की कोई विशेष रुचि नहीं थी। साम्प्रतिक युग के उग्र भारतीय चिन्तक होते हुए भी २० वीं शताब्दी की भारतीय चिन्तन-धरा पर प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकों में उनकी मानवतावादी विचारधारा की उपेक्षा की गई है। हाल में सन् १९६२ ई० में 'अखिल भारतीय दर्शन-परिषद' द्वारा प्रकाशित **समकालिन भारतीय दर्शन** नामक पुस्तक में छिट-पुट रूप में तीन स्थलों पर श्री राय के विचारों का संकेत है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रायः सभी समकालीन विचारक प्रत्ययवादी (Idealist) हैं और श्री राय के विचार भौतिकवादी एवं साम्यवादी हैं। तत्त्व-मीमांसापरक समस्याओं (Metaphysical problem) की अपेक्षा श्री राय ने सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं में अधिक रुचि दिखाई है, जो भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जानेवाले पाठ्यक्रमों की सीमा के अंतर्गत नहीं आती; क्योंकि आज के पाठ्यक्रमों के अंतर्गत तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics), ज्ञान-मीमांसा (Epistemology), धर्म (Religion), भाषा-विश्लेषण (Linguistic analysis) आदि ही आते हैं। श्री राय साम्यवादी विचारक थे और उनपर साम्यवाद का इतना अधिक प्रभाव था कि 'कम्युनिष्ट इन्टरनेशनल' की कार्यकारिणी समिति के सदस्य होने के साथ-साथ मैक्सिकों, ताशकन्द और चीन आदि में विभिन्न तरह की योजना बनाने की और क्रांति का प्रशिक्षण देने की भी उनकी जिम्मेदारी थी। बाद में चलकर

उन्होंने 'कोमिण्टर्न' (The Communist International or Third International) से अपना संबंध तोड़ लिया और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़े, जिसके लिए उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के बाद मार्क्सवाद को छोड़कर वे एक आमूल परिवर्त्तनवादी मानवतावाद के प्रचार में लग गए। श्री राय की निम्नलिखित प्रमुख रचनाएँ हैं—

1. **New Humanism,** Renaissance Publishers Ltd 15, Bankim Chatterjee Street, Calcutta-12 (1947).
2. **Materialism**
3. **Scientific Politics** ,, ,,
4. **Science and Philosophy** ,, ,,
5. **Reason, Romanticism and Revolution** ,, ,,
6. **New Orientation,** ,, ,,
7. **India's Message,** ,, ,,
8. **The Russian Revolution,** ,, ,,
9. **Revolution and Counter-Revolution in China** ,, ,,

श्री राय का कहना था कि मानव की जीवन की बुद्धि विश्व के सामंजस्य की प्रतिध्वनि है, और वह अपने परिवेश का स्वाभाविक संवेदन और उसके प्रति प्रतिक्रिया है।[1]

श्रीराय के दर्शन का लक्ष्य मानव-केन्द्रित है, जाति या वर्ग नहीं है। उनके दर्शन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सबसे अधिक मूल्य दिया गया है। अपने आदर्श के संबंध में उन्होंने लिखा है कि "एक आध्यात्मिक समुदाय (Community) या स्वतंत्र मानवों को सार्वभौम प्रजातंत्रात्मक साधारण राज्य (Cosmoplitan Commonwealth) वाले विश्व, जिसमें मानव किसी राष्ट्र या वर्ग के न होंगे, की रचना करना उनका लक्ष्य है।[2]

---

1. "Human intellect is the echo of world harmony, it is the instinctive awareness of the environment and a reaction towards that."

(*M. N. Roy* : **New Humanism,** P. 62)

2. "Reconstruction of the world as a Commonwealth and fraternity of free men, by the collective endeavour of Spiritually emancipated moral men."

(वहीं, पृ० ६२)

श्री राय का नीतिशास्त्र मानव-केन्द्रित है। इसके पूर्व कि ६: के विचार का एक सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया जाए, इस स्थल पर आमूलात्मक मानवतावाद (Radical Humanism) के स्थल का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इनके विचार को मानवतावाद कहा जाता है; क्योंकि इनके सभी विचार मानव-केन्द्रित हैं। शताब्दियों पूर्व ग्रीक दार्शनिक ने प्रोटागोरस ने मानवतावादी विचारधारा को जन्म दिया था; जिसके अनुसार 'व्यक्ति ही सभी वस्तुओं का मानदंड है' (Man is the measure of every thing)। प्रोटागोरस की इस विचारधारा से राय पूर्णत: सहमत हैं। वे मार्क्स की उक्ति से भी काफी प्रभावित हैं कि मनुष्य मानवता की जड़ है (Man is the root of mankind)।[1] वे यह चिन्ता व्यक्त करते हैं कि वर्त्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं में मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा है और मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए समाज की व्यवस्था होनी चाहिए। उनका तो यहाँ तक कहना है कि सामाजिक नैतिकता का आधार भी सारे सदस्यों की वैयक्तिक नैतिकता ही होनी चाहिए। व्यक्ति के हित की सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान देने के कारण ही वे वैसी सभी राजनीतिक विचारधाओं की निर्भय होकर आलोचना करते हैं, जो व्यक्ति के हितों की अवहेलना कर अधिनायकवादी (Totalitarian) व्यवस्था को समाज में प्रश्रय देती हैं। इनकी राय में उन सब व्यक्ति-विरोधी प्रवृत्तियों को जन्म देने की जिम्मेवारी प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था की है, जिसके हाथ में शक्ति होती है। इसलिए वे विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्था की माँग करते हैं, जिसमें शक्ति राज्य के हाथों में न होकर व्यक्ति के हाथों में होगी। वे लिखते है :

"मनुष्य समाज का विधाता है। सहकारी सामाजिक संबंधों द्वारा वैयक्तिक गुणों के विकास में सहायता मिलती है। किन्तु सामाजिक प्रगति का प्रमुख कारण वैयक्तिक अभ्युदय ही है। समुदाय के लिए व्यक्ति का अस्तित्व अनिवार्य है तथा उसका उत्थान ही वास्तविक है, जिसका अनुभव व्यक्ति को होता हैं"[2]

---

1. वहीं, पृ० ६२।

2. Man is the archetype of society, co-operative social relationships contribute to develop individual potentialities, But the development of the Individual is the measure of social progress, Collectivity presupposes the exisence of individuals........... well-being if it is actual, is enjoyed by individuals,"

(वहीं, पृ० ५३)

"The Function of a New Social Philosopy' शीर्षक निबंध में श्री राय लिखते हैं कि सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख कोटि (Category) व्यक्ति ही है।[1]

इस प्रकार श्री राय की प्रमुख चिन्ता एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने की है, जिसमें राजनीतिक शक्ति के माध्यम से सहायता पाने की आवश्यकता नहीं हो।

उनकी दूसरी प्रमुख कल्पना आमूलात्मक परिवर्त्तनवाद (Radicalism) की है। उनके विचार में स्वाभाविक या प्राकृतिक मानवतावाद (Naturalistic Humanism), जिसे उन्होंने नव्य या नव मानवतावाद (New Humanism) भी कहा है, ही एक ऐसी विचारधारा है, जो मनुष्य को आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता की प्रेरणा दे सकती है। इसे उन्होंने 'नव' या 'नया' इसलिए कहा है कि यह नए वैज्ञानिक निष्कर्षों पर आधारित है तथा समग्रात्मक (Integral) है। 'नए' शब्द से उनका तात्पर्य प्रचलित व्यवस्था में आमूल परिवर्तन से भी है। मनुष्य को प्रकृति की यांत्रिक प्रक्रियाओं से भिन्न मानते हुए सभी भौतिक अथवा प्राकृत वस्तुओं से श्रेष्ठ माना गया है। श्री राय के निष्कर्षों में सबसे प्रमुख बात यह है कि वे नैतिकता को धार्मिक पृष्ठभूमि से मिश्रित नहीं करते और यांत्रिक शारीरिक प्रकियाओं को ही, जिनकी अभिव्यक्ति सहज ज्ञान के रूप में होती है, नैतिक अनुज्ञा (Moral sanction) का मौलिक आधार मानते हैं। भौतिकवाद के समर्थक होने के कारण श्री राय नतिकता का लक्ष्य किसी दैवी सत्ता, रहस्यात्मक आदर्श या अनुभूति की प्राप्ति स्वीकार न कर मनुष्य की सहज बुद्धि को स्वीकार करते हैं। श्री राय के विचार में नैतिकता का उद्देश्य सभी प्रकार की स्वतंत्रता की प्राप्ति है। इसीलिए वे व्यक्ति को, राजनीति की शक्ति से मुक्त कराना चाहते हैं और सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं। इतना ही नहीं, वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को अनिवार्य मानते है। उनका कहना है कि देश की आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने में समर्थ हो।

इस प्रकार श्री राय अपने आमूल परिवर्त्तनवादी मानवतावाद (Radical Humanism) संबंधी विचारधारा की स्थापना के लिए पूर्वप्रचलित प्रमुख

---

1. "Tne individual humon being is the qacin category of social science, including polltcal theories and ecocomic doctr-ines."

(वही, पृ० ६४)

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था की तीव्र आलोचना करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में श्री राय के आमूलात्मक मानवतावादी विचारों पर एक विहंगम-दृष्टि डाली जा रही है।

श्री राय की योजना वर्त्तमान प्रचलित सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन लाने की है। यह आमूल परिवर्त्तन क्रान्तिकारी व्यक्तियों द्वारा ही संभव है। परन्तु 'क्रान्तिकारी' (Revolutionary) की उनकी अपनी परिभाषा है। क्रान्तिकारी वह है, जिसे यह मालूम हो कि विश्व का पुनर्निर्माण हो सकता है, जैसे आज है उससे अच्छा बनाया जा सकता है। विश्व का निर्माण किसी अदृश्य सत्ता से नहीं हुआ है, इसलिए इसे मानवीय प्रयास से पुनर्निर्मित किया जा सकता है।[1]

अपनी पुस्तक New Humanism में वे लिखते हैं कि अब वह समय आ गया है कि सभी विचारवान् व्यक्तियों को चुप रहना छोड़कर मानवता के भविष्य के बारे में सोचना होगा कि कैसे इस सभ्य एवं विकसित विश्व को बचाया जा सकता है। परंपरा एवं अंधे मनोवेगों (Blind passicns) का परित्याग कर बुद्धि की आवाज का उद्घोष करना होगा। मानव-सभ्यता एक विध्वंसकारी परिस्थिति से गुजर रही है। इसलिए इसकी रक्षा के लिए वर्त्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन लाना होगा। इस संबंध में वे रूसी और चीनी साम्यवाद तथा प्रचलित प्रजातांत्रिक प्रणाली का उल्लेख करते हैं, जो मानव-सभ्यता को महाविप्लवकारी परिस्थिति से बचाने में असमर्थ रही है, जिसको ओर दुनिया बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इन दोनों में से कोई भी प्रशासकीय व्यवस्था दुनिया को संकट से बचाने के लिए नेतृत्व प्रदान करने में समर्थ नहीं है। दो विश्वयुद्धों की असफलता के बावजूद आज की प्रगतिशील दुनिया के लोग प्रजातांत्रिक स्वतंत्रता और आर्थिक समानता को स्वीकार करते हैं, जिसमें किसी मूल्य के मापदंड और आचरण के किसी सामान्य नियम का पूर्णतः अभाव है (Standrad of values and common code of behaviour)। चारों तरफ अस्थिरता और उपस्थित महाविपत्ति इस प्रणाली के अनुकरण का ही परिणाम है। इसलिए वे

1. "A revolutionary is one who has got the idea that the world can be remade, made better than it is to·day. that it was not created dy a supernatural powea, and therfore could be remade by human efforts."

(*M. N, Roy : Science, Philosphy and Politics* p.28)

मानते हैं कि एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन की वर्त्तमान में बड़ी आवश्यकता है।[1]

अपने उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि के लिए वे अधियायकतंत्र (Dictatorshin), संसदीय लोकतंत्र (Parliamentarv democracy) और साम्यवादी (Communistic) प्रणालियों की शव-परीक्षा प्रस्तुत करते हैं और प्रत्येक की कमजोरियों का भंडाफोड़ करते हुए आमूलात्मक मानवतावाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अधिनायकतंत्र (Dictatorship) में सबसे बड़ा दोष यह कि यह आधुनिक सभ्यता के सांस्कृतिक मूल्यों से पूर्णतः मुख मोड़ लेता है। बल प्रयोग एवं दबाव होने के कारण इसमें उन सभी नैतिक और सामाजिक मूल्यों का निषेध किया जाता है, जिनसे कि मनुष्य को स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है। श्री राय के विचार में अधिनायकतंत्र का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष, जो कि एक प्रशंसनीय लक्ष्य का साधन है, विरोधी मालूम पड़ता है। दूसरी तरफ संसदीय लोकतंत्र की सीमाओं को भी भुलाया नहीं जा सकता; क्योंकि इसके अंतर्गत भी नागरिक स्वतंत्रता मात्र औपचारिक बन जाती है। इस स्थल पर वे मार्क्स के विचार का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार संसदीय लोकतंत्र वर्ग-अधिनायकतंत्र का ही एक प्रारूप है।[2]

लोकतंत्र की सबसे बड़ी असफलता यह है कि इसका, अपनी कार्यकारणी के सदस्यों पर कोई नियंत्रण नहीं होता। ऐसा देखा जाता है कि किसी भी समस्या पर चुनाव के समय संसद में जिस दल का बहुमत रहता हैं, वह दल संवैधानिक ढंग से तानाशाही व्यवहार करता है। इस तरह शक्ति के दुरुपोग को लोकतांत्रिक संवैधानिक तौर पर नियंत्रित करना संभव नहीं। प्रायः सभी तरह की नीतियों का निर्धारण बहुमत रखनेवाली पार्टी द्वारा ही होता है। इस प्रकार संसदीय लोकतंत्र, जैसा कि दुनिया में प्रचलित है, न तो लोकतंत्र की ही सुरक्षा कर सकता है और न हरएक परिस्थिति में नागरिक स्वतंत्रता ही कायम रख सकता है। श्री राय के मत में संसदीय लोकतंत्र का मौलिक दोष उसके दर्शन एवं स्वतंत्रतावाद

---

1. "In this gravest erisis of its entire history,sthe civized world needs a new hope, a new faith, new ideal—a new philosophy of revolutionary theory and practice suitable for the conditions of time." (*M. N. Roy : New Humanism*, P. 6)

2. "Parliamentary democracy is also a class dictacorship." (वही, पृ० ७)

के प्रयोग में विरोधाभास का होना है। इसकी संवैधानिक परंपरा में वैयक्तिक स्वतंत्रता स्वीकार की गई है। परन्तु इस परंपरा में व्यक्ति की सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता की अवहेलना होने के कारण इसे कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक ऐसे लोकतंत्र की वे आवश्यकता महसूस करते हैं, जिनका कि राज्य पर पूर्ण नियंत्रण रहे। एक नई सामाजिक व्यवस्था का राजनीतिक आधार इस तरह की व्यवस्था द्वारा प्रदान किया जा सकता है।[1]

इसी तरह प्रचलित साम्यवाद की समीक्षा करते हुए श्री राय लिखते हैं कि यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि वर्त्तमान साम्यवादी व्यवस्था का मार्क्स के मौलिक सिद्धान्तों से दूर एक अगल दिशा में ही विकास हो रहा है। श्री राय बड़े दु:ख से यह व्यक्त करते हैं कि यह मात्र ऐतिहासिक संयोग कीं बात है कि साम्यवादी अभियान का पर्यवसान रूस और चीन की साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना में हुआ। उनके विचार में इसकी स्थापना इगलैण्ड जैसे औद्योगिक देश में होनी चाहिए थी। ऐतिहासिक नियतिवाद की यांत्रिक विचारधारा का वास्तव में यह तो निषेध-मात्र है।[2]

इसका विपरीत परिणाम यह हुआ कि दूसरे देशों तक फैलनेवाली क्रान्ति की आशा भी १९२१ ई० के बाद शीघ्र लुप्त हो गई। इसका दुष्परिणाम मार्क्स की अर्थनीति पर भी पड़ा, जिसके कारण इस परंपरा में आने वाले लेनिन ने यह अनुभव किया कि मार्क्स ने अर्थनीति के संबंध में कुछ लिखा ही नहीं है और इसके संबंध में नए सिरे से पुनर्निर्माण करना शुरू किया। एक अर्थशास्त्री होने के नाते अर्थनीति के संबंध में मार्क्स के कुछ आलोचनात्मक विचार थे। उसकी यह धारणा थी कि अर्थनीति के संबंध में कोई भी भविष्य की योजना अव्यावहारिक होगी (Any planning of the future was utopia, which he so severely condemned)। इसीलिए लेकिन ने अपनी नई अर्थनीति का उद्घोष करते हुए लिखा कि मार्क्स की रचनाओं में सामाजिक अर्थशास्त्र के संबंध में एक शब्द भी

---

1. "An organised democracy, in a position to wield standina control of the State, should be the political foundation of the new social order."

(वही, पृ० ९)

2. "It was itself a negation of the mechanical view of historical determinism."

(वही, पृ० १०)

नहीं कहा गया है।[1]

यहाँ तक की मार्क्स के नारे को कि "हर एक से उसकी योग्यता एवं हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार" लेनिन ने व्यर्थ का उद्घोष (Useless slogan) कहा।[2]

इन मूलभूत मान्यताओं में परिवर्त्तनों को देखते हुए श्री राय यह अनुभव करते हैं कि रूस की साम्यवादी क्रांति के बाद की राजनीतिक पद्धति और आर्थिक पुर्ननिर्माण केवल प्रयोजनवादी (pragmatic) रहे हैं। श्री राय तो यहाँ तक लिखते हैं कि विभिन्न मौलिक परिवर्त्तनों को देखते हुए वर्त्तमान साम्यवाद को वास्तव में समाजवाद या साम्यवाद कहना भी कठिन लगता है; क्योंकि इसके सैद्धान्तिक आधार भी मार्क्स के आदर्शों पर अवलंबित नही हैं। इसलिए इसे साम्यवाद कहना भी मनमाना ही होगा।[3]

साम्यवाद केवल व्यवहार में ही हतोत्साहता-जनक नहीं हुआ है, बल्कि उनका आदर्श भी संदेहास्पद हो गया है।[4]

अभी हम जिस साम्यवाद को रूस और चीन में देख रहे है, यह राज्य-पूँजीवाद (State capitalism) से भिन्न नहीं है।[5]

---

1. "In the works of Marx there was not a word on the economics of Socialism."

(वही, पृ० १०)

2. "From each according to his ability, to each according to his need."

(वही, पृ० ११)

3. "Therefore it is arbitrary to call them Socialist or Communist. On the cther hand, since the Prophet did not prescribe how new order should be built, nor held out any picture even the broad outlines, the label can be attached to anything and nobody can prove that the Soviet State and Soviet economy are not Communist."

(वही, पृ० १२)

4. "Not only has Communism in practice been disappointing; lhe ideal itself has been put to doubt by experience."

(वही, पृ० १३)

5. "The Russian experience proved that Socialism or Communism could be nothing more than State-capitalism.,,

(वही, पृ० १५)

इसलिए श्री राय यह मानते हैं कि अगर हमें महाविपत्ति से विश्व को बचाना है तो हमें साम्यवाद के लुभावने आदर्श के फेरे में नहीं पड़ना चाहिए।[1]

इस प्रकार विभिन्न प्रचलित प्रणालियों की विस्तृत समीक्षा करने के बाद श्री राय यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या राजनीति को बुद्धिगम्य या परिष्कृत किया जा सकता है ? (Can politics be rationalised ?) इनकी राय में इसकी वास्तविक संभावना है। वे मानते हैं कि क्रान्तिकारियों को, 'साधन साध्य को पवित्र करता है' (Means purifies the end) के सिद्धान्त का प्रयोग करना चाहिए। क्रान्ति एक नैतिक आवश्यकता है तथा सामाजिक न्याय का सूचक है। एक अपवित्र साधन द्वारा कभी नैतिक आदर्श की प्राप्ति नहीं की जा सकती। इसीलिए साम्यवाद, जो साधनों की पवित्रता में आस्था नहीं रखता, एक बौद्धिक भ्रान्ति (Intellecual confusion), आध्यात्मिक अस्तव्यस्तता (Spiritual chaos), सांवेगिक निराशा (Emotional frustration) और सामान्य अनैतिकता (A general demoralisation) को प्रश्रय देता है। श्री राय के मन में इनको दूर करने का एक ही उपाय है कि आमूल परिवर्त्तनवादी मानवतावाद की स्थापना की जाए। बौद्धिक दृष्टि से सुसंगठित समाज द्वारा ही एक नैतिक नियम की स्थापना की जा सकती है।[2]

आमूल परिवर्त्तनवादी मानवतावादी सिद्धान्त के आदर्श का संकेत करते हुए वे लिखते हैं कि आमूल परिवर्त्तनवादी वर्ग या राष्ट्र को ध्यान में रखकर नहीं सोचता। उसका मनुष्य से संबंध होता है। वह स्वतंत्रता का अर्थ वैयक्तिक स्वतंत्रता मानता है। इसीलिए इसे नवमानतावादी कहना चाहिए।[3]

---

1. "We must look beyond the deceptive ideal of Communism, if the threatened catastrophe is to be avoided,"
(वही, पृ० १५)

2. "Morality emanates from the rational desire for harmonious and mutually beneficial social relations."
(वही पृ० ३५)

3. "Radicalism thinks in terms neither of nation nor of class; its concern is man; it conceives freedom as freedom of the individual. Therefore, it can also be called New Humanism, new because it is Humanism enriched, reinforced and elaborated by scientific knowledge and social experience gained during the centuries of modern civilization."

(वही, पृ० ३७)

इस आदर्श की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि लोग आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र बन सकें।[1]

जबतक धन का मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार वितरण नहीं होगा तबतक जनता की हालतो में सुधार लाना असंभव है। इस नए समाज को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से लोकतांत्रिक होना चाहिए, तभी यह अपनी रक्षा आप कर सकता है। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया है कि नैतिकता विवेक-सम्मत होनी चाहिए (Morality must be an appeal to conscience) नैतिकता मनुष्य के स्वभाव में ही अंतर्निहित होती है; क्योंकि वह विवेकशील होती हैं। एक सुव्यवस्थित लोकतंत्र में शक्ति व्यक्तियों के ही अधिकार में होनी चाहिए। राज्य को आवश्यक रूप से नागरिकों के नियंत्रण में होना चाहिए। यही इसका आधारभूत तत्त्व है।

सामाजिक क्रान्ति के कार्यक्रम के संबंध में श्री राय का विचार है कि विश्व के पुनर्निर्माण में मनुष्य को सबसे अधिक भूमिका निभानी हैं। मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा उर्वर होता है; अपनी सृष्टि के बारे में जब वह सचेष्ट हो जाता है, तब पुनर्निर्माण की इच्छा से व्यग्र हो जाता है और एक स्वतंत्र मनुष्य के समाज के निर्माण के विचार से उत्तेजित हो जाता हैं। तब वह भीषण परिवर्त्तन ला सकता है और आमूल परिवर्त्तनवादी लोकतंत्र के स्वस्थ विकास के लिए वातावरण का निर्माण कर सकता है। इस योजना की सफलता तभी हो सकती हैं, जब अपनी स्वार्थपरता को छोड़कर क्रान्ति को सामाजिक सामंजस्य, विवेक और वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त पर आधारित किया जाए।

श्री राय के मत में वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना मानवतावादी परंपर को पुनर्जीवित करने से ही हो सकती है। एक नए समाज-दर्शन का श्रीगणेश एक ऐसी मानव के स्वरूप-संबंधी चिन्तन से होता है, जिसको अपने भावी विकास पर दृढ़ विश्वास है। विज्ञान के आधुनिक निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए अब मनुष्य को न तो अज्ञात (Unknown) ही कहा जा सकता है, और न मनुष्य को ईश्वर का अंश मानते हुए कोई अलौकिक आधार ही माना जा सकता हैं। जैविक दृष्टि से मनुष्य एक भौतिक सत्ता है। मनुष्य के विकास की किसी अवस्था में कोई बाह्य तत्त्व उसमें प्रवेश नहीं करता। ईश्वरीय

---

1. "Economic liberation of the masses is an essential condition for their advancing towards the goal of freedom."
(वही, पृ० १११)

तेज (Divine spark) के रूप में आत्मा नामक कोई तत्त्व भौतिक प्रक्रिया के रूप में मनुष्य में प्रवेश नहीं करता। जिसे हम आत्मा कहते हैं, वह भी जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियों का परिणाम है और एक भौतिक-रासायनिक तत्त्व (Physio-chemical phenomenon) मात्र है। इस प्रकार मनुष्य को आध्यात्मिकता से मुक्त कर देने पर वह अपने को स्वतंत्र जीव के रूप में सोच सकता है। आध्यात्मिकता से मुक्त मानने पर एक स्वतंत्र समाज की रचना में स्वेच्छया वह अपना योगदान कर सकता है। मानव-स्वभाव की छान-बीन में इस तरह नृतत्त्व-विज्ञान भी सहायता कर सकता है। इस प्रकार जीव-विज्ञान से भी यह सिद्ध है कि मनुष्य एक विवेकशील जीव है। विवेक एक जैविक प्रक्रिया (Biological function) है। इसलिए श्री राय मानते हैं कि आज सबसे जटिल संकट आध्यात्मिक संकट है—मनुष्य की आत्मा का संकट (A crisis of the soul of man) है। मनुष्य यह भूल बैठा है कि वह मूलतः क्या है। इसीलिए आज यह याद दिलाने की जरूरत है कि वह मनुष्य है, वह स्वतंत्र है, न कि लौकिक या ईश्वरीय शक्ति का गुलाम।

इस प्रकार आमूल परिवर्त्तनवादी सामाजिक क्रान्ति का मौलिक आधार नवमानवतावाद है। इसे उन्होंने वैज्ञानिक और संपूर्ण मानवतावाद भी कहा है यद्यपि मानवतावाद एक पुरानी विचारधारा है, तथापि प्राचीन मानवता-वादी विचारकों को मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं था। वर्त्तमान वैज्ञानिक विचार से मानवता के मूल्यों के संबंध में नये बातें प्रकाश में आई हैं। इस नई विचारधारा में मनुष्य की सार्वभौमिकता और महत्ता को एक धर्म-सिद्धान्त (Dogma) के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि वह वैज्ञानिक ज्ञानों की सहायता पर अवलंबित है।[1]

पुरानी मानवतावादी विचारधारा से इस नई मानवतावादी सिद्धान्त में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अनेक समस्यओं को लेकर अंतर है। जहाँ तक राजनीतिक समस्याओं का प्रश्न है' श्री राय का विचार है कि भारतवर्ष में लोकतंत्र की समस्या सबसे अधिक विवेकपूर्ण एवं यथार्थवादी

1. "We call it New Humanism. Since its newness is derived from modern scientific knowledge, the more appropriate sovereignty and primacy of man not as a dogma but with the support of scientific kuowledge."

(वही, पृ० १०५)

है। यह नई विचारधारा निम्न स्तर से ही प्रेरणा ग्रहण करने का समर्थन करती है। संसदीय लोकतंत्र में मतपत्र-पेटी (Ballot-Box) द्वारा शक्ति प्राप्त की जाती है। यहाँ तक कि चुनाव-प्रचार अंधविश्वास एवं संवेगों के आधार पर किया जाता है। भारतवर्ष में इस औपचारिक लोकतंत्र की अवनति का प्रमुख कारण यह है कि यहाँ लोगों की प्रवृत्ति है किसी चीज पर आँखें बंद कर विश्वास कर लेना या उसे दैवी घटना के रूप में स्वीकार कर लेना। आज के विवेकशील व्यक्ति का तो कभी-कभी झुकाव साम्यवाद की ओर भी होता है। परन्तु श्री राय के मत में यह भी विवेकपूर्ण नहीं है; क्योंकि इस प्रणाली में भी भय, वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण, गृह-युद्ध अशान्ति आदि विपत्तियों के फैलने की आशंका रहती है।[1]

इसलिए वे पूछते हैं कि क्या कोई तीसरा विकल्प भी है ? विवेकशील होने के नाते ऐसी व्यवस्था को चुनना चाहिए, जिसमें कम-से-कम मात्रा में विपत्तियाँ हों। हाँ, यह बात अवश्य है कि ऐसा करना केवल एक विचार व्यक्त करना है। साम्यवाद को अस्वीकार कर हम औपचारिक लोकतंत्र के दोषों की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। जहाँ लोकतांत्रिक परंपरा की सांस्कृतिक परिस्थितियाँ नहीं हैं, ऐसे देश में लोकतंत्र से राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना नहीं हो सकती। ऐसे वातावरण में औपचारिक लोकतंत्र (Formal democracy) आसानी से न केवल अशिष्ट जन-नेतृत्व (Vulgar demagogy) में अधःपतित हो जाएगा, अपितु अधिनायक तंत्र का मार्ग प्रशस्त करेगा। इसलिए वे कहते हैं कि नवमानवतावादी सिद्धान्त पर आधारित समाज-दर्शन ही हमें एक लोकतांत्रिक व्यवस्था की प्रेरणा दे सकता है; जो विवेकशील निर्वाचक-समूह की ठोस नींव पर आधारित होगा ऐसी व्यवस्था संवेगों से प्रचालित न होकर विवेक द्वारा प्रचालित होगी। इस आमूलात्मक मानवतावादी व्यवस्था में क्या होना चाहिए और उसका संविधान क्या होगा ? इसका निश्चय जन-मानस द्वारा किया जाएगा। इसके भविष्य का लेखा-जोखा पहले से निर्धारित नहीं किया जा सकता।

---

1. 'Communism will bring in it's wake a long period of terror regimentation, suppression of liberty, most probably civil war and chaos. It is sheer madness to welcome that catastrophe with the hope that the golden utopia may be waiting on the other side of the uncharted sea of blood and tears."

(वही, पृ० १०६)

इस प्रकार श्री राय निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वतंत्रता की दुनिया के निर्माण के लिए कृतसंकल्प आध्यात्मिकता से मुक्त मनुष्यों के सामूहिक प्रयास से ही आमूलात्मक परिवर्तनकारी लोकतंत्र का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। इस लिए आध्यात्मिकता से स्वतंत्र व्यक्ति लोगों पर ऊपर से शासन करने के बदले उनके निर्देशक, मित्र और मार्गदर्शक (Guides, friends and philosophers) होंगे। सभी व्यक्ति विवेकशील होने के कारण आचारवान् होगे और इन लोकतंत्रवादियों का उद्देश्य शक्ति का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होगा। इस प्रकार श्री राय की घोषणा विवेक और नैतिक उत्तरदायित्व को अधिक-से-अधिक निबाहने की है। हमारे देश के लिए ही नहीं, बल्कि आधुनिक सभ्यता के लिए भी भावी आशा इस पूर्णतया नि:स्वार्थ अपील में ही सन्निहित है।[1]

## (च) डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (५ सितम्बर, १८८८—)

प्राचीन ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के 'फिलोस्फर किंग' के स्वप्न को चरितार्थ करनेवाले भारतवर्ष के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् का समकालीन दार्शनिकों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। केवल दर्शनशास्त्र संबंधी शुष्क समस्याओं के समाधान के परिवेश में ही सीमिति न रहकर इन्होंने अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए मानवता की बहुविधि सेवा की है। दर्शन एवं राजनीति की समानरूप सेवा करते हुए इन्होंने हिन्दू-धर्म के विकास के लिए विभिन्न ग्रंथों, लेखों एवं भाषणों द्वारा जो प्रचार किया है, वह दर्शन के इतिहास में भुलाय नहीं जा सकता। यह बड़ा आश्चर्य सा लगता है कि इतना व्यस्त जीवन बिताते हुए एवं महत्त्वपूर्ण पदों--हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति, विश्वविद्यालत अनुदान आयोग के अध्यक्ष, रूस में भारत के राजदूत, उपराष्ट्रपति एवं राष्ट्रपति आदि पदों पर बड़ी कुशलता से सेवा-कार्य करते हुए भी हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति-संबंधी लगभग दो-दर्जन से भी अधिक पुस्तकों के लेखन-कार्य' विभिन्न पुस्तकों का संपादन, विश्व-भर की विद्वत्मंडली के समक्ष भाषण देने और शोध कार्यों में लगे हुए जिज्ञासुओं का मार्ग-दर्शन करने के लिए भी उन्हें समय मिल पाता था। अभिव्यक्ति-शैली तो इन्हें ईश्वरीय देन के रूप में प्राप्त थी। गद्यात्मक शैली की दृष्टि से शेलिग, शोपेनहावर वर्गसाँ आदि से सहज ही इनकी तुलना की जा सकती है।

---

1. "Our appeal is to reason and moral responsibility. The response to this entirely disinterested appeal will be the measure of hope of the future not only of our country, but of the modern civilization."

(वही, पृ० १११)

डॉ० राधाकृष्णन् की भाषा अलंकारों एवं उपमाओं से भरी हुई रहती है। साथ ही इनका प्रत्येक वाक्य नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के पुट से भरा हुआ रहता है। उदाहरण के लिए इनकी रचनाओं से कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं जो कि मूल अंग्रेजी के रूपान्तर हैं—

'मुक्ति में मनुष्य स्वयं अपनी महान् कृति बन जाता है।'

'आध्यात्मिक होना इतनी तीव्रता से सोचना है कि चिन्तन दर्शन बन जाय।'

'जीवन-पथ का अंतिम अंश अकेले ही पूरा करना पड़ता है।'

'हम अपनी आत्माओं को वर्दी नहीं पहना सकते।'

'संपूर्णता का पथ सीढ़ी नहीं, एक चढाई है।'

'सत्य के घर में कोई अनिवार्य सैनिक भर्ती नहीं हो सकता।'

'शताब्दियों के जीवन से थोड़ा-सा इतिहास बनता है और शताब्दियों के इतिहास से थोड़ी-सी परंपरा।'

दर्शनशास्त्र के विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि दार्शनिक प्रायः अव्यावहारिक नहीं होते हैं और दर्शन तभी उच्चकोटि का होता है जब वह नीरस होता है। डॉ० राधाकृष्णन् का दर्शन इन दोनों ही भ्रान्त धारणाओं के खंडन का ज्वलंत उदाहरण है।

अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति को व्यक्त करते हुए इन्होंने लिखा है कि दर्शन के विषय में विज्ञान के बजाय धर्म के दृष्टिकोण की ओर मेरी रुझान मेरी प्रारम्भिक शिक्षा से निर्धारित हुई तथा मैं ऐसे वातावरण में बड़ा हुआ, जहाँ अदृश्य सत्ता जीवन्त सत्य थी।' डॉ० राधाकृष्णन् की शुरू से ही ईश्वर में प्रबल आस्था थी और यही कारण है कि धार्मिक अनुभव को इन्होंने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है। अन्तर्दृष्टि (Intuition) की महत्ता बतलाते हुए ये लिखते हैं कि इन्हें विभिन्न समयों और देशों के संत-महात्माओं के अनुभवों के प्रति अन्य किसी भी वस्तु से अधिक आस्था है। इनके लिए प्लोटिनस, ऑगस्टीन, दान्ते, बुद्ध, शंकर तथा अनेक संतों की वाणियाँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्होंने अर्न्तदृष्टि को चरम सत्ता के ज्ञान के लिए सबसे अधिक प्रामाणिक स्वीकार किया है।[1]

डॉ० राधाकृष्णन् की विभिन्न रचनाओं में दर्शन की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण चर्चा पाई जाती है। परन्तु यहाँ उन सभी विषयों की चर्चा प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं होगा। यहाँ हम उनके नीति-

1. *Dr. S. Radhakrishdan* : An Idealistic View of Life, PP. 100-110

संबंधी विचारों की एक संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करेंगे। अपनी दो प्रमुख पुस्तकों Eastern Religion and Western Thought तथा An Idealistic View of Life में इन्होंने अपने नीति-सबंधी विचारों को बड़े ही स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है। यों तो प्राय: इनकी सभी रचनाओं में विश्व के सभी प्रमुख धर्मों से हिन्दू-धर्म का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति के प्रति किए पाश्चात्य आलोचकों के आक्षेपों का प्रत्युत्तर देते हुए हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति की महत्ता सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। अपनी Eastern Religion and Western Thought नामक पुस्तक में तो ये हिन्दू-धर्म के प्रति किए गए स्वेट्जर के आक्षेपों का, कि 'हिन्दू-धर्म' मुख्यत: वेदान्त, संसार को अवास्तविक करार देकर मायावाद का प्रचार करता है और अगर संसार का वास्तविक अस्तित्व नहीं है तो नीतिशास्त्र का भी ऐसे सिद्धान्त में कोई महत्त्व नहीं हो सकता, इत्यादि का बड़ा कुशलता से प्रत्युत्तर देते हैं।[1]

नीतिशास्त्र के संबंध में डॉ० राधाकृष्णन् एक स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करते हैं। इनकी राय में नीतिशास्त्र-संबंधी विवेचना को तत्त्व-मीमांसक सिद्धान्त पर आधारित हुआ रहना चाहि । समकालीन युग में तत्त्व-मीमांसा से ऊपर नीतिशास्त्र की निर्भरता पर उतना प्रबल आग्रह अन्य किसी भी दार्शनिक ने नहीं किया है जितना डॉ० राधाकृष्णन् ने। समकालीन पाश्चात्य विचारक तत्त्व-मीमांसा को अर्थहीन करार देकर नीतिशास्त्र को तत्त्व-मीमांसा से स्वतंत्र मानते हैं। डॉ० राधाकृष्णन्, ब्रैडले और ग्रीन के समान ही नीतिशास्त्र को तत्त्व-मीमांसा पर आधारित मानते हैं। उनका कहना है कि किसी भी नैतिक सिद्धान्त का आधार तत्त्व-मीमांसा में होना आवश्यक है। चरम सत्ता को हम जैसा समझते हैं. वैसा ही हम आचरण करते हैं। दृष्टि और कर्म साथ-साथ चलते है।[2]

---

1. "The emphasis on ecstacy in Hindu thought naturally tends to world and life negation ... For any believer in the *MAYA* doctrine ethics can have only a quite relative importance.'

**(Eastern Religion and Western Thought** PP. 76-84)

2. "Any ethical theory must be grounded in Metaphysics, in a philosophical conception of the relation between human conduct and ultimate reality, As we think ultimate reality to be, so we have Vision and action go together. If webelieve in absurdities, we shall commit atrocities."

(वही, पृ० ८०)

डॉ० राधाकृष्णन् के विचार में नीतिशास्त्र का तत्व-मीमांसा के ऊपर आधारित होने का कारण मूल्य की समस्या है। नैतिकता का आदर्श मूल्यों की प्राप्ति में है, इसलिए वह सत्ता के स्वरूप में उदासीन नहीं हो सकता, जो सभी मूल्यों की प्राप्ति का चरमस्रोत है। An Idealistic View of Life में वे लिखते हैं कि यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या नैतिक आदर्श निरा स्वप्न हैं अथवा उसे जगत् का समर्थन प्राप्त है। मनुष्य क्या अन्धकार में अकेला ही जूझ रहा हैं अथवा कोई ऐसा सर्वोपरि उद्देश्य भी है जो उसके आदर्शों की खोज में उसके साथ सहयोग कर रहा है, उसकी योजनाओं को चरम पराजय से उसे बचाने में प्रयत्नशील है ? क्या हमारे मूल्य केवल अनुभवजन्य संयोग-मात्र हैं, अधिक-से-अधिक मानव-मन की सृष्टि-मात्र है, अथवा वे हमारे सामने ऐसे अस्तित्व का उद्घाटन करते हैं, जो वाह्य सत्ता से कुछ अधिक है, जो ऐसी आध्यात्मिक सत्ता को प्रकट करते हैं, जो होनेवाली घटनाओं की सार्थकता का स्रोत है।

डॉ० राधाकृष्णन् निरपेक्ष आदर्शवाद (Absolute idealism) के समर्थक हैं। चरम आदर्श एक अवैयक्तिक ब्रह्म ही है। इसीलिए कुछ लोग यह आशंका भी करते हैं कि निरपेक्ष आदर्शवाद का समर्थन करने पर चरम अर्थ में नैतिकता का क्या मूल्य होगा ? कभी-कभी वे स्वयं भी लिखते हैं कि चरम विश्लेषण में नैतिकता के परे जाना ही होगा। उनका कहना है कि नीतिशास्त्र जीवन के पृथकतावादी दृष्टिकोण की पूर्व-कल्पना है। जब हम उससे परे हो जाते हैं तब नैतिक नियमों के ही परे पहुँच जाते हैं।[1]

इसकी पुष्टि में वे सेंट पॉल (St. Paul) के कथन को उद्धृत करते हैं कि "If ye are led by the spirit, you are not under the law 'हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ' नामक पुस्तक में भी वे लिखते हैं कि सत् और असत् के भेद की जड़ें कार्यशीलता में हैं। किन्तु कार्यशीलता तो ऐतिहासिक प्रक्रिया की विशेषता है और संपूर्णता ऐतिहासिक नहीं हैं। उसमें कोई अभाव नहीं और उसमें कोई कार्यशीलता नहीं हो सकती।[2]

---

1. "Ethics presupposes the separatist view of life. Where we transcend it, we get beyond ethical law."
(वही, पृ० १०३)

2. "Activity is a characteristic of the historical process, and perfection is not historical. It lacks nothing and it cannot have any activity in it."
(Hindu View of Life, P. 64)

डॉ० राधाकृष्णन् के विचार में नैतिकता और आध्यात्मिकता में अंतर है तथा उनकी दृष्टि में नैतिकता से आध्यात्मिकता श्रेष्ठतर है। वे लिखते हैं कि महत्ता की दृष्टि से आध्यात्मिक धरातल नैतिक धरातल से उच्चतर है। आध्यात्मिकता के क्रमिक उद्भव की खोज करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार जड़ पदार्थ (Matter) से जीव (Life) प्रकट होता है, जीवन से मन (Mind) और मानसिक चेतना से मूल्यों (Values) का निर्धारण होता है, वैसे ही मूल्य-बोध से ईश्वर की चेतना प्रकट होती है। वे मानते है कि मोक्ष 'नैतिक व्यक्तिमत्ता से आध्यात्मिक सर्वव्यापकता तक उठने का ही नाम हैं। नैतिकता की नींव पर आध्यात्मिक संपूर्णता का महल खड़ा है। 'ईस्टर्न रिलिजन ऐण्ड वेस्टर्न थौट' में स्वेट्जर के आक्षेपों का उत्तर देते हुए वे लिखते हैं कि बिना आध्यात्मिक विश्वास और ज्ञान के मात्र नैतिकता हमें पूर्ण संतोष प्रदान कराने में असमर्थ है। ज्ञान अथवा माया के आवरण के परे देख पाना मनुष्य की आध्यात्मिक नियति है। यह मात्र नैतिक शुभ से कुछ अधिक है, यद्यपि इसके बिना आध्यात्मिकता प्राप्त नहीं की जा सकती। एक मनुष्य के स्वभाव का विकास है तो दूसरा उसका पुनर्विन्यास (Reorientation) है।[1]

डॉ० राधाकृष्णन् इस जन्म-मरण के आवागमन के चक्र से मुक्ति की व्याख्या में लिखते हैं कि 'नैतिक से आध्यात्मिक धरातल तक उठने की उत्कट अभिलाषा ही मुक्ति है। An Idealistic View of Life में वे लिखते हैं कि आध्यात्मिकता नैतिकता का विस्तार-मात्र नहीं है। वह एकदम भिन्न क्षेत्र है, जो सनातन वस्तुओं से संबद्ध है।

नैतिकता से आध्यात्मिकता को श्रेष्ठ करार देने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि नैतिकता कम महत्त्वपूर्ण है। वे बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि तत्त्व-मीमांसक दृष्टि से ब्रह्म की एकता स्वीकार कर लेने पर भी नैतिकता की प्रामाणिकता की महत्ता पर कोई असर नहीं पड़ता।[2]

---

1. "Mere morality without spiritual conviction of Jnana is incapable of giving us satisfaction. Jnana or seeing through the veil of Maya, is the spiritual destiny of Man. It is something more than ethical goodness though it cannot be achieved without it ·····one is an improvement of human nature, while the other is a reorientation of it."

**(Eastern Religion and Western Thought, pp. 93-94)**

2. "The metaphysical truth of the oneness of Brahaman does not in any way prejudice the validity of the ethical distinctions on empirical level."

**(An Idealistic View of Life)**

डॉ० राधाकृष्णन् की राय में वैयक्तिक मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भी नैतिकता बनी रहती है। यद्यपि मुक्त व्यक्ति के लक्ष्य लिए कोई पदार्थ नहीं रहता; क्योंकि उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है, फिर भी वह संसार के जीवों के कल्याण के लिए आजीवन सक्रिय रहता है।[1]

ये बुद्ध का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस तरह निर्वाण प्राप्त कर लेने पर बुद्ध अपनी चरम मुक्ति को रोककर चालीस वर्ष तक आचरणों को चालू रखते हुए लोक-कल्याण, धर्म-प्रचार, संघ स्थापना आदि कार्य करते रहे, उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य का सारा आचरण स्वाभाविक रूप में होता रहता है। यहाँ तक कि शंकराचार्य ने भी यह स्वीकार किया है कि आत्मप्राप्ति के लिए व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व का कोई मूल्य नहीं रहता, फिर भी वह नैतिक गुणों का परित्याग नहीं करता। नैतिक पूर्णता से नैतिकता की नहीं, नीति-परक व्यक्तिवाद की मृत्यु हो जाती है।[2]

इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् नैतिकता के पूर्ण महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा धर्म और नैतिकता के बीच घनिष्ठ संबंध मानते है। यह बात अवश्य है कि चरम तत्त्व की प्राप्ति की अवस्था आने पर नैतिकता और धर्म दोनों पीछे छूट जाते हैं; क्योंकि अंतिम अर्थ में ईश्वर और आत्मा दोनों ही अवास्तविक हो जाते हैं, केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता रह जाती है। परन्तु व्यावहारिक धरातल पर धर्म और नैतिकता दोनो यथार्थ हैं तथा एक-दूसरे से परस्पर संबद्ध हैं। इनकी राय में यदि नैतिक विचार गहन हो तो वह नैतिकता को विश्वव्यापी उद्देश्य प्रदान करेगा। नैतिक चेतना के लिए आदर्शों की सत्यता में विश्वास होना अनिवार्य है। यदि आदर्शों की सत्यता धर्म है, तो नैतिक मानवतावाद कर्म-रूप धर्म है।[3]

---

1. "While it is true that the freed soul has no longer any object to aim at, since he has achieved all, still he works for the welfare of the world."

(**Indian Philosophy**, vol. 2, p. 621)

2. "Moral obligation has no meaning for the freed soul, he (Shankar) does not say that moral virtues are abandoned by him. Moral perfection leads to the death, not of morality, but of moralistic individualism."

(वही, पृ० ६२०)

3. "If ethical thought is profound, it will give a Cosmic motive to morality. Moral consciousness must include a conviciton of the reality of ideals. If the latter is religion, then ethical humanism is acted religion."

(Eastern Religion and Western Thought, P. 82)

फिर, ये लिखते हैं कि धर्म का संबंध चरम सत्ता की प्राप्ति से है जब कि नैतिकता का संबंध इस व्यावहारिक जगत् के जीवन से, मुख्यतः मानव-समाज से है।[1]

धर्म और नीतिशास्त्र के घनिष्ठ संबंध की चर्चा ये Religion And Society नामक पुस्तक में करते हैं। यहाँ ये लिखते हैं कि जीवन एक है, और उसमें धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष के बीच भेद नहीं है। भक्ति और मुक्ति परस्पर-विरोधी नहीं है। धर्म, अर्थ और काम साथ-ही-साथ चलते हैं। दैनिक जीवन के साधारण काम-धन्धे सच्चे अर्थ में परमेश्वर की सेवा ही हैं।[2]

उनकी राय में रहस्यवाद और नीतिशास्त्र, परलोक-परायणता और सांसारिक कार्य साथ-साथ चलते है।[3]

हिन्दू-धर्म का उदाहरण देते हुए ये लिखते हैं कि यहाँ पर धर्म और नैतिकता में धनिष्ठ संबंध है। The Heart of Religion नामक पुस्तक में ये लिखते है कि धर्म मूलतः 'धर्म और नैतिकता का समन्वय है'। हिन्दू-चिन्तनधारा के अनुसार धर्म या सद्‌गुण वस्तुओं के सत्य के अनुरूप होने में है। अधर्म उसके ठीक विपरीत है। नैतिक दुःख उस सत्य के साथ सामंजस्यहीनता है, जो कि विश्व को आच्छादित और नियंत्रित किए हुए है।[4]

---

1. "Religion is the soul's attitude, response, and adjustment in the presence of the Supreme realities of the transcendent order; ethics deals with the right adjustment of life on earth especially in human society."

(वही, पृ० ८२)

2. "Life is one, and in it there is no distinction of sacred and secular. Bhakti and Mukti are not opposed. *Dharma*, *Artha* and *Kama* go together. The ordinary avocations of daily life are in a real sense service of the Supreme. The common tasks are as effective as monastic devotion."

(**Religion and Society**; pp. 105-106)

3. "Mysticism and ethics, other-worldliness and worldly work go together.'

(**Eastern Religion & Western Thought**, **P.** 82)

4. "*Dharma* or virtue is in conformity with the truth of things : *Adharma* or vice is opposition to it. Moral evil is disharmony with the truth which encompasses and controls the world."

(**The Hindu View of Life, P.** 78)

यद्यपि धर्म निरपेक्ष है, किन्तु उसमें कुछ भी निरपेक्ष और समयातीत विषय वस्तु नहीं है। नैतिकता का एक मात्र शाश्वत तत्त्व है : मनुष्य की श्रेष्ठतर की प्राप्ति की आकांक्षा—"Though dharma is absolute, it has no absolute and timeless content. The only thing eternal about morality is man's desire for the better." इस प्रकार डॉ० राधाकृष्णन् की राय में 'सच्चे धर्म' और 'सच्ची नैतिकता' में कोई वास्तविक अंतर नहीं है।

नैतिक आदर्शों की प्राप्ति के मार्ग के संबंध में डॉ० राधाकृष्णन् कर्म-मार्ग का समर्थन करते हैं। संन्यास या वैराग्य-मार्ग का कभी उन्होंने समर्थन नहीं किया है। **गीता** के ही समान वे मानते हैं कि हमें संसार के त्याग की नहीं, आत्मसंयम की आवश्यकता है। आत्मलाभ आत्मत्याग द्वारा ही संभव है।[1]

इधर हाल में तो अपने भाषणों एवं लेखों में वैराग्यवाद का उन्होंने घोर विरोध किया है। यहाँ तक की आत्मलाभ के लिए समाज को छोड़कर भागनेवालों की वे कटु आलोचना करते हैं—'हमें मानव-जाति के विनाश का खतरा उठाकर आत्मा को बचाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। रूढ़िवादी एवं परंपरागत नियमों का भी कट्टरतापूर्वक पालन करने के वे विरुद्ध हैं। रूढ़िवादी नैतिक नियमों के कट्टरतापूर्वक पालन से सद्गुणों में, वृद्धि नहीं होती। बुद्ध एवं सुकरात की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि कभी-कभी अनैतिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करना भी नैतिक अनिवार्यता होती है।

नैतिक सद्गुणों की विवेचना में वे महात्मा गाँधी से बहुत प्रभावित मालूम पड़ते हैं। अहिंसा को वे सर्वोपरि मानते हैं। महात्मा गांधी के ही समान वे अहिंसा का भावात्मक अर्थ में सभी जीवों के प्रति प्रेम के रूप में प्रयोग करते हैं। उनकी राय में सभी जीवों के प्रति प्रेम ही नैतिक जीवन की सबसे व्यापक और सार्वभौम कसौटी है। जबतक जीवों के प्रति हमारे मन में अगाध प्रेम नहीं उत्पन्न हो जाता तबतक सत्य और असत्य मात्र अमूर्त प्रत्यय (Abstract concept) ही रहते हैं। उनके विचार में अन्य नैतिक सद्गुण, जैसे क्षमा, त्याग, सहिष्णुता, शान्ति प्रियता, धैर्य आदि सभी जीवों के प्रति अगाध प्रेम ही विभिन्न रूप हैं। उनकी राय में सभी सद्गुणों का नैतिक जीवन के विकास के साथ समन्वय होना चाहिए।

---

1. "In order to know the truth we must cease to identify ourselves with the separate ego shut up in the walls of body, life and mind. We must renounce the narrow horizon, the selfish interest, the unreal objective. This is an ethical process."

(The Eastern Religions etc., P. 95)

जीवन को अधिक भव्य और सुखमय बनाने के लिए वे विज्ञान और औद्योगीकरण के भी विरुद्ध नहीं हैं। सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं की हमें अवहेलना नहीं करनी चाहिए। हमें आधुनिक सभ्यता के फलों को, जिनमें विज्ञान और औद्योगीकरण द्वारा प्राप्त सुविधाएँ भी शामिल हैं, आभारपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

वे वैयक्तिक स्वतंत्रता के भी बड़े समर्थक हैं। सबसे बड़ा सत् स्वतंत्रता का जीवन है। जिस व्यवस्था में व्यक्ति को अपने कार्यों का उत्तरदायित्व नहीं है वहाँ भले-बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। किसी को दबाव देकर नैतिक नहीं बनाया जा सकता। केवल नैतिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी वे स्वतंत्रता को अनिवार्य बताते हैं। यद्यपि वे स्व-तंत्र इच्छा-शक्ति के समर्थक हैं, तथापि इसे नैतिकता और धर्म, दोनों का आधार तत्त्व मानते हैं। वे भाग्यवाद के समर्थक नहीं हैं, फिर भी कर्मवाद के नियम को स्वीकार करते हैं। कर्मवाद के सिद्धान्त को मानते हुए भी इसे वे इच्छा-स्वातंत्र्य का विरोधी नहीं मानते हैं। वे लिखते हैं :

"पूर्व में किए गए कर्मों के अनुरूप ही हमारे भावी जीवन, वंश-परंपरा तथा वातावरण का निर्माण होता है। लेकिन जब हम इस जीवन के संदर्भ में देखते हैं तब हम यह कह सकते हैं कि हमारी राष्ट्रीयता, जाति, पैतृक संपत्ति या सामाजिक स्तर आदि के बारे में हमसे विचार-विमर्श नहीं किया गया। परन्तु इन परिधियों को छोड़कर हमें इच्छा स्वातंत्र्य है। जीवन एक ब्रिज के खेल के समान है। हमने खेल या कार्ड के आकार प्रकार आदि का आविष्कार नहीं किया है...।"[1]

"प्रत्येक मनुष्य एवं प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिए तीन बातें आव-श्यक हैं—

(१) भलाई की शक्ति में विश्वास;
(२) ईर्ष्या और संदेह का अभाव;
(३) जो भला बनने तथा भलाई करने के लिए यत्नवान् हैं, उनकी सहायता करना।"

—विवेकानन्द : **पत्रावली**, प्रथम भाग, पृ० १०८

1. "It is our past *Karma* that determines our ancestry heredity and environment. But when we look from the stand-point of this life. we can say that we were not consulted about nationality, race, parentage or social status. But to subject to these limitations, we have freedom of choice. Life is like a game of bridge. We did not invent the game or design the cards... etc."

(The Bhagavdgita, pp. 48-49.)